सम्मेलन पत्रिका

(शोध–त्रैमासिक)

भाग	:	११०, संख्या–२
चैत्र–आषाढ़	:	संवत् २०८२
अप्रैल–जून	:	सन् २०२५

प्रधान सम्पादक

कुन्तक मिश्र

सम्पादक

रामकिशोर शर्मा

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज–३

ISSN : 2278-1773, यू०जी०सी० केयर लिस्ट पत्रिका
पीयर रिव्यूड शोध पत्रिका

प्रकाशक
कुन्तक मिश्र
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज-३
दूरभाष (कार्यालय)- ०५३२-२५६४१९३

- सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचारों तथा प्रस्तुत किये गये तथ्यों से प्रकाशक व सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक का होगा।
- इस पत्रिका में विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित एवं अभिनिर्णित लेख प्रकाशित किये जाते हैं।

एक प्रति का मूल्य : १०५ रु०
वार्षिक मूल्य : ४०० रु०

विदेश के लिए वार्षिक मूल्य : २० डालर (डाक व्यय अतिरिक्त)

वार्षिक सदस्य बनने के लिए **४००.०० रु०** का ड्राफ्ट या पोस्टल-आर्डर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १२ सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज-३ के नाम भेजें। कृपया चेक या मनीआर्डर न भेजें।

मुद्रक :
सम्मेलन मुद्रणालय
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद-३

विषय-सूची

सम्पादकीय

क्र.सं.	आलेख	लेखक	पृष्ठ
	साहित्य आलेख		
१.	**भक्ति के उजास में संत रज्जब का काव्य**	–प्रो० राजेश कुमार गर्ग	७–१४
२.	**सामाजिक विसंगतियों का दस्तावेज : गज़ल**	–डॉ० अशोक कुमार	१५–१९
३.	**प्रवासी मजदूरों की वेदना का दस्तावेज : लाल पसीना**	–डॉ० अनिला मिश्रा	२०–२६
४.	**स्वाधीनता आन्दोलन में रामचरितमानस की भूमिका**	–डॉ० प्रद्युम्न सिंह	२७–३१
५.	**हड़प्पा सभ्यता की कला-संस्कृति में, धार्मिकता की झलक**	–विवेक सुमन शर्मा	३२–३५
६.	**सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में सौन्दर्यांकन**	–डॉ० बसुन्धरा उपाध्याय	३६–४१
७.	**राही मासूम रज़ा की रचनाओं में समन्वय और मानवीय संवेदना**	–डॉ० ममता खांडल	४२–४९
८.	**आधुनिक कविताई की चुनौतियाँ और अज्ञेय**	–डॉ० परम प्रकाश राय	५०–५४
९.	**केदारनाथ अग्रवाल : काव्य में उभरता लोक-मानस**	–अजीत कुमार पुरी	५५–६१
१०.	**सांस्कृतिक बोध का जीवन्त दस्तावेज : शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ**	–डॉ० अजीत सिंह	६२–६५
११.	**शिवकुमार मिश्र एवं हिन्दी आलोचना**	–डॉ० सुनीलकुमार बारीआ	६६–७२
१२.	**'आज के अतीत' आत्मकथा में झाँकता भीष्म साहनी का व्यक्तित्व**	–प्रीति शर्मा	७३–७८
१३.	**अनामिका के उपन्यासों में आधी आबादी की संघर्ष**	–डॉ० बिजय रवानी	७९–८३

१४. **महादेवी वर्मा के साहित्य में अभिव्यक्त स्त्री चेतना और वर्तमान स्त्री विमर्श**	–प्रिया दूबे	८४–८९
१५. **समकालीन बोध और धूमिल की कविता**	–विद्याप्रभाकर डॉ० कनुप्रिया प्रचण्डिया	९०–९५
१६. **तुमड़ी के लिए शब्द बुनता हूँ.....**	–डॉ० अरुण कुमार मिश्र	९६–१०७
१७. **समकालीन हिन्दी कविता में सौन्दर्यबोध के नये आयाम**	–डॉ० नितेश उपाध्याय,	१०८–११३
१८. **भारतीय नवजागरण के सन्दर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी की पत्रकारिता का योगदान**	–आनन्द तिवारी	११४–१२६
१९. **हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद की उपलब्धियाँ और देन**	–रेशू चैहान	१२७–१३२
२०. **विश्वनाथ प्रसाद कृत प्याज के छिलके की प्रासंगिकता**	–रूबी सिंह	१३३–१४०
२१. **भारतीय परम्परा, इतिहासबोध और अज्ञेय**	–डॉ. सुशील द्विवेदी	१४१–१४७
२२. **अलका सरावगी के कहानी संग्रह 'दूसरी कहानी' में स्त्री अस्मिता का स्वरूप**	–राधा गौतम	१४८–१५३
समीक्षा		
२३. **सबके राम**	–विवेक सत्यांशु	१५४–१५६
२४. **जस की तस धरि दीनी चदरिया**	–डॉ० हरिसिंह पाल	१५७–१६०

सम्पादकीय

'सम्मेलन पत्रिका' पं० मदन मोहन मालवीय, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के द्वारा महात्मा गाँधी की सहमति से १९१० में स्थापित संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित शोध-पत्रिका है। इसका प्रकाशन १९१३ से आरम्भ हुआ, तब से अनवरत यह पत्रिका प्रकाशित हो रही है। लगभग १०८ (एक सौ आठ) वर्षों में इसमें अनेक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व के शोध-पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। मालवीय जी विशेषांक, गाँधी-टण्डन विशेषांक, लोक-संस्कृति विशेषांक के अलावा जन्मशती के अवसर पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त,, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, भारतेन्दु शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, भारतेन्दु आदि लेखकों पर उच्चस्तरीय सामग्री से युक्त विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। पत्रिका की गरिमामयी परम्परा तथा स्तर को बनाये रखने के लिए सम्पादक की अपेक्षा लेखकों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है। आलेख यथासम्भव नवीन विषयों या ज्ञात तथ्यों की पुनर्व्याख्या से सम्बन्धित हों। एक या दो पुस्तकों से उतारकर आलेख न भेजें। शोध आलेख में उद्धृत कविताओं, मतों तथा अन्य उद्धरणों के लेखक का नाम, पुस्तक का नाम, पृष्ठ संख्या, संस्करण आदि का उल्लेख अवश्य करें। आप लोग इस उन्नत परम्परा के संरक्षण में अपना अमूल्य योगदान करेंगे।

सम्मेलन पत्रिका की नियम एवं शर्तें

(१) सम्मेलन पत्रिका के समस्त आलेख शोधार्थियों एवं प्राध्यापकों के लिए उपयोगी होने चाहिए।

(२) शोधार्थी अपने मौलिक आलेख को अपने शोध निर्देशकों से अग्रसारित कराकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय में प्रेषित कर सकते हैं।

(३) सम्मेलन की चयन समिति के पास सर्वाधिकार है कि वह आपके आलेख प्रकाशन को स्वीकृत/अस्वीकृत कर सकती है।

(४) शोधार्थी/प्राध्यापक अपने आलेख की हार्डकॉपी सम्मेलन कार्यालय में भेजें और अपने शोध आलेख (माइक्रोसॉफ्ट ऑफिस वर्ड २००७ सॉफ्टवेयर में कृतिदेव ०२१ में १६प्वाइंट में) टंकित कराकर तथा एक बार गम्भीरता से उसे पढ़कर, त्रुटियों को सुधार करके प्रकाशन हेतु प्रेषित करें, शोध आलेख की सॉफ्ट कॉपी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ईमेल hs.sammelan.alld@gmial.com पर भेजें।

(५) शोध आलेख ८ पृष्ठों से अधिक न हो।

(६) शोध आलेख के साथ अपना परिचय, पता, एवं सम्पर्क-सूत्र इत्यादि का उल्लेख होना चाहिए।

(७) आप अपने शोध आलेख साहित्य-विभाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन १२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज, उ०प्र०-२११००३ पर प्रेषित कर सकते हैं।

-रामकिशोर शर्मा

साहित्य आलेख

भक्ति के उजास में संत रज्जब का काव्य

–प्रो० राजेश कुमार गर्ग

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य के इतिहास का महत्वपूर्ण कालखण्ड है। आलोचकों ने इस युग को 'स्वर्ण काल' कहा है। इस कालखण्ड के महत्वपूर्ण कवि और संत दादू दयाल की शिष्य परंपरा में संत रज्जब का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दादू दयाल के यूँ तो ५२ प्रमुख शिष्य माने जाते हैं किन्तु कुछ ग्रन्थों में उनकी शिष्य संख्या १५२ मानी गयी है। जिनमें सन्त रज्जब, सुन्दरदास, गरीबदास, हरिदास, प्रागदास आदि प्रमुख नाम हैं। रज्जब जी ने दोहों, छप्पय, गुणछन्द, सवैया आदि छन्दों के माध्यम से अपनी रचनाएँ की। दादू से भेंट और उनके दादू पंथ में दीक्षित होने को लेकर एक किंवदंती है कि जब वह अपनी बारात लेकर जा रहे थे, उनकी बारात के मार्ग में ही दादू जी अपनी मण्डली के साथ रहते थे। दादू से मिलने के उद्देश्य से वह उनके पास चले गए किन्तु उस समय वह ध्यानमग्न थे। दादू से मिलने के लिए रज्जब जी थोड़ी देर वहीं रुक गए किन्तु उनकी आँख खुलने पर उनके भीतर आश्चर्य जनक प्रभाव पड़ा। दादू के मुँह से एक दोहा निकला–

'कीया था कुछ काज कौ, सेवा सुमिरण साज।
दादू भूल्या बंदिगी, सरया न एको काज।'[१]

दादू का यह दोहा सुनकर रज्जब को वैराग्य हो गया और उन्होंने दादू का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। वह अपना दूल्हे का वेश उतारने लगे। दादू ने उन्हें ऐसा करने से रोका कि जिस वेश में आपको सत्य का ज्ञान हुआ है उसे हमेशा पहनकर रखना चाहिए। रज्जब ने उनकी बात को स्वीकार कर लिया और वह आजीवन दूल्हे के वेश में ही रहे। यहीं से उनकी गुरुभक्ति प्रारम्भ हुई। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी इस घटना के बारे में लिखते हैं–'अपने गुरु की आज्ञा से उस अवसर के स्मारक रूप में रज्जब जी तब से निरंतर दूल्हे के ही वेश में रहने लगे थे। जब एक पोशाक पुरानी पड़ जाती थी तब उसकी जगह कोई प्रेमी सेवक इन्हें वैसी ही दूसरी बनवा देता था। पूछने पर ये कह देते थे कि अपने प्रियतम की भेंट का चिन्ह है।'[२]

रज्जब दादू पंथ के सबसे प्रतिभा संपन्न कवि थे। उनकी काव्य प्रतिभा को लेकर तमाम आलोचकों ने विभिन्न बातें कहीं हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं– 'रज्जबदास

निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा में राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है, तथाकथित शास्त्रीय काव्य-गुण का उसमें अभाव है फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है और लोग जिसको कई पद में कहते हैं, रज्जब उस तत्व को सहज ही छोटे दोहे में कह जाते हैं।'[३]

रज्जब की भक्ति में गुरु का स्थान सर्वोच्च है। वह अपनी बानियों में इस आशय को स्पष्ट करते नजर आते हैं। संत साहित्य के प्रमुख अध्येता प्रो. नन्दकिशोर पाण्डेय इस सम्बंध में लिखते हैं-'रज्जब अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए शास्त्र से अधिक उपयोगी गुरु को मानते हैं लेकिन उससे भी महत्वपूर्ण यह है कि उन वचनों का उच्चारण कौन कर रहा है। इसी अर्थ में सद्गुरु का महत्व है।'[४] रज्जब के काव्य में बहुविधि भक्ति का समावेश देखा जा सकता है।

रज्जब ने अपने काव्य में गुरु महिमा को सर्वोपरि रखा है। वह अपने आपको गुरु के प्रति समर्पित भाव से अभिव्यक्त करते हैं। उनके अनुसार गुरु दादू बहुत दयालु हैं। उन्हीं की कृपा से रज्जब ने ब्रह्म की पहचान की है। उनका मानना है कि गुरु दादू की वजह से ही उनका प्रवेश परमार्थ के मार्ग पर हुआ है। अगर दादू न होते तो उनका परमात्मा से साक्षात्कार सम्भव न हो पाता। गुरु कृपा से अब आत्म और परमात्म एक हो गए हैं। संत रज्जब जी लिखते हैं-

'जन रज्जब युग-युग सुखी, गुरु दादू की दाति।
आप समागम कर लीये, भई निरंजन जाति। [५]

रज्जब अपने आप को गुरुभक्ति में इस प्रकार लीन रखते हैं ज्यों उन्हें गुरु के अतिरिक्त कुछ न सूझ रहा हो। गुरु के प्रति उनका समर्पण देखते ही बनता है। गुरु दर्शन में उन्हें असीम आनंद की प्राप्ति होती है। अपनी मूलभूत आवश्यकताओं, जैसे-घर और भोजन तक रज्जब ने गुरु को ही समर्पित कर दिया है। उनका मानना है कि गुरु दादूदयाल ने उन्हें अपने उपदेश रूपी वचनों का मूल्य देकर उन्हें क्रय कर लिया हो-

'दादू के दीदार में रज्जब मस्त मुरीद।
खिल खाना कुरवान कर, कीया सखुन खरीद।' [६]

ईश्वर को प्राप्त करने के लिए जीव के भीतर जिज्ञासा और तड़प का होना अनिवार्य है। रज्जब कहते हैं कि जिस जीव के भीतर ईश्वर को प्राप्त करने के लिए पीड़ा नहीं है, जिसके अंदर प्रभु के लिए वियोग नहीं है, उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता है। हरि दर्शन के लिए हृदय में हरि के प्रति पीड़ा का होना अनिवार्य है-

'दर्द नहीं दीदार का, तालिब नाही जीव।

रज्जब विरह वियोग बिन, कहाँ मिले सो पीव।' [७]

रज्जब जी मानते हैं कि जिस प्रकार नदी में कई दिशाओं से यात्री आकर नाव में बैठ जाते हैं और नदी को पार कर फिर अपनी-अपनी दिशा में चले जाते हैं। उन्हें नदी अथवा नाव का मोह नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषों के लिए भी परिवार आदि का मोह नहीं रहता। वह इस संसार में यात्री की भाँति आते हैं और अपना नदी रूपी जीवन पार कर आगे बढ़ जाते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। ज्ञानी व्यक्ति निर्मोही होता है-

'ज्यों रज्जब नर नाव में, दह दिशि बैठे आय।
पार गए पंथो पड़ें, मोह न बांध्या जाय।' [८]

संत रज्जब ने नाम की महिमा बताई है। उनके अनुसार नाम जपकर ही भक्त, भगवान को प्राप्त कर सकता है। राम नाम ही भक्ति का मूल है और राम नाम जपकर ही भक्त, भगवान को प्राप्त कर सकता है। राम नाम ही आनन्द का मूल है अतः राम नाम का सुमिरन आवश्यक है-

'राम नाम मूल मंत्र, सत्य नाम निरंजनं।
यथा ध्यावै तथा पावै, भजे भरिये भाजनं।' [९]

रज्जब के यहाँ भक्ति में प्रेम को स्थान दिया गया है। उनका मानना है कि प्रेम से ईश्वर को आवाज लगाने पर ही जीव की प्रार्थना सुनी जाती है। प्रेम के अभाव में जीव की प्रार्थना रूखे अनाज की भाँति हो जाती है जिसका शरीर के पोषण में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रूखा अनाज मनुष्य को जीवित तो रखता है किंतु सुख की प्राप्ति नहीं करता-

'नाम नेह बिन लीजिए, ज्यों रूखा खाया नाज।
रज्जब पुष्ट न प्राण ह्वै मरे न जीवन साज।' [१०]

सन्त रज्जब के यहाँ अजपा जाप भक्ति देखने को मिलती है। वह अजपा जाप की प्रक्रिया के बारे में भी अपने काव्य के माध्यम से बताते हैं। उनका मानना है कि शरीर की प्रत्येक क्रिया द्वारा जब नाम का स्मरण ही होने लगे और लगातार कोई ईश्वर का स्मरण कर रहा हो, तब वह प्रक्रिया अजपा जाप होती है। ईश्वर का निरंतर स्मरण आत्मा को ईश्वर की कोटि में ही पहुँचा देता है-

'शरीर शब्द अरु श्वास करि, हरि सुमिरन तिहुँ ठाँम।
जन रज्जब आतम अगम, अजपा इसका नाम।' [११]

इसी क्रम में वह आगे अजपा जाप के बारे में बताते हैं। रज्जब बताते हैं कि अजपा-जाप मुँह, वाणी और वचन से परे होता है। अजपा जाप के द्वारा ही मन को एकाग्र किया जा सकता

है और एकाग्र मन ही प्रभु की प्राप्ति का मार्ग खोलता है। अजपा-जाप के द्वारा ही जीव आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करता है-

'वक्र बैन वायू रहित, होय सु अजपा जाप।
रज्जब मन उनमनि लगे, प्रकटे आपे आप।'[१२]

अजपा जाप के उदाहरण पूर्व में कबीर और गोरखनाथ के यहाँ भी देखे जा सकते हैं।

अजपा-जाप भक्ति के साथ उनके यहाँ ध्यान का विशेष महत्व है। उनका मानना है कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए जीवात्मा को ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। ध्यान की प्रकृति कैसी हो, इसके बारे में बताते हुए वह लिखते हैं कि जीवात्मा को ईश्वर का ध्यान उसी प्रकार करना चाहिए जैसे चकोर चन्द्रमा का ध्यान किया करता है। जिस प्रकार चकोर, चन्द्रमा को निहारता है वैसे ही जीवात्मा को भी परम पुरुष अर्थात परमात्मा का ध्यान करना चाहिए-

'परम पुरूष का ध्यान धर, जैसे चन्द्र चकोर।
जन रज्जब चारों पहर मेली पलक न कोर।'[१३]

रज्जब का मानना है कि ईश्वर का भजन ही मनुष्य की सफलताओं की सीढ़ी है। बिना ईश्वर के भजन के मनुष्य यश को प्राप्त नहीं कर सकता। जो लगातार ईश्वर का भजन कर रहा है और उनके चिंतन में रत है, वह ही संसार मे जाना जाता है। ईश्वर का भजन जो मनुष्य करता है ईश्वर भी उसकी चिंता करते हैं-

'जिहिं घट नौबत राम की, सो प्रकटे संसार।
जन रज्जब जगमग रह्या, सेये सिरजनहार।' [१४]

भजन की महिमा पर रज्जब ने पर्याप्त जोर दिया है। अपने दूसरे दोहे में वह बताते हैं कि राम के भजन के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। मनुष्य वही भरा है जो राम का भजन करता है और जो भजन नहीं करता वह खाली है। जहाँ मन, वाणी और कर्म में राम का नाम नहीं, वह मन वाणी और कर्म बिल्कुल खाली है-

'रज्जब रीता राम बिन, भरया भजे भगवान।
मनसा वाचा कर्मना, नीके किया निदान।' [१५]

रज्जब जी संत को संसार में सबसे ऊपर मानते हैं। उनका मानना है कि जो संत इस संसार में मात्र ईश्वर भजन में ही अनुरक्त रहता है वह प्राणिमात्र को कष्ट कैसे दे सकता है? उसे तो मात्र अद्वैत ब्रह्मा ही प्रिय होता है तो द्वैत से वह कैसे प्रेम कर सकता है? इस प्रकार वह लौकिक संसार से विरक्त हो जाता है और पाप पुण्य से भी परे हो जाता है। ऐसे सन्तजन से संसार में कोई भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता-

'एक रंग राता रहै, दूजे रंग रुचि नाँहि।
जन रज्जब ता संत सम, को कहिए कलि माँहि।'[१६]

रज्जब मानते हैं कि जो जीव ईश्वर की शरण में होते हैं उन्हें माया नहीं परेशान कर सकती। वे माया के बीच रहते हुए भी माया से दूर रहते हैं। इसके संदर्भ में एक उदाहरण देते हुए वह बताते हैं कि जिस प्रकार समुद्र में उठने वाले बड़वानल और बारिश के दिनों में बादल में उठने वाली बिजली को जल प्रभावित नहीं कर पाता, वैसे ही माया भी ईश्वर के शरण में गए जीव को किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं कर पाती। वह लिखते हैं-

'बड़वानल अरु वज्र को, पाणी परसे नाहि।
यूँ रज्जब मिलते पुरुष, मिलै न माया माँहि।' [१७]

रज्जब ईश्वर को करुणाकर मानते हैं। उनका मानना है कि ईश्वर के करुणा करने पर निश्चय ही हम उन्हें पाने में सफल होंगे। वह मानते हैं कि यदि जीवात्मा समर्पण भाव से ईश्वर की आराधना करें और वह खुद को करुणा का पात्र बनाकर ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत हो तो निश्चय ही ईश्वर उस पर कृपा करेंगे। ईश्वर के समक्ष जाते हुए वह खुद को अधम और ईश्वर को अधमोद्धारक बताते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमारा भी कल्याण करे-

'रज्जब सम अधम सु नहीं, तुम प्रभु अधम उधार।
उभय अंग में फेर क्या, कीजे कृपा विचार।'[१८]

इसी प्रकार रज्जब ईश्वर के समक्ष विनत भाव से खुद को प्रकट करते हैं। उनकी प्रार्थना में विनती का स्वर सम्मिलित है। उनका मानना है कि बिना ईश्वर के वह किसी भी कार्य को करने में सक्षम नहीं हैं। ईश्वर की भक्ति और सहयोग ही उन्हें किसी कार्य के लिए सक्षम बनाता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह बहुत दयालु हैं और अब अपना दया से परिपूर्ण हाथ उनके सिर पर भी रख दें। वह ईश्वर को दुहाई देते नजर आते ही कि आपने जिस प्रकार पूर्व में सभी भक्तों का कल्याण किया वैसे ही उनका भी कल्याण करें। वह ईश्वर को 'नरक निवारण' कहकर संबोधित करते हैं और लिखते हैं-

'रज्जब ऊपर रहम कर, हरिजी दीजे हाथ।
नाता राखो नाम का नरक निवारण नाथ।' [१९]

रज्जब के अनुसार ईश्वर का स्वरूप एकमात्र निर्गुण और निराकार ही है। साकार रूप में उन्होंने ईश्वर की पहचान नहीं की है। ईश्वर की पहचान के सम्बंध में उन्होंने एक दोहा लिखा है जिसमें उन्होंने उदाहरण दिया है कि मात्र दीपक की उपस्थिति गृह स्वामी की उपस्थिति नहीं है। मिट्टी के बर्तन की उपस्थिति कुम्हार नहीं है। सूरज और चंद्रमा भी ईश्वर के अवतार नहीं हो सकते वैसे ही सगुण रूप में ब्रह्म की उपस्थिति नहीं हो सकती। ब्रह्म की

उपस्थिति एकमात्र निर्गुण और निराकार रूप में ही की जा सकती है। रज्जब ब्रह्म के संदर्भ में बताते हुए लिखते हैं-

'दीपक होय न घर धणी, बासण होय न कुम्हार।
शशि सूरज साहिब नहीं, यूँ आतम ब्रह्म विचार।' [२०]

आगे ईश्वर के सामर्थ्य पर रज्जब जी पर्याप्त बातचीत करते हैं। उनका मानना है कि इस प्रकृति में कर्ता एकमात्र ईश्वर है। ईश्वर के अतिरिक्त इस संसार में कोई भी ऐसा नहीं है जो कर्ता हो। प्रकृति के संचालन से लेकर अन्य गतिविधियों में ईश्वर का अप्रत्यक्ष रूप से योगदान होता है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि सभी कुछ उसी ईश्वर के नियंत्रण में हैं। सारा नियंत्रण उसके पास होने के बाद भी वह प्रक्रिया से स्वयं को अलग कर लेता है। सारा संसार ईश्वर के ही अधीन है और उसके पास सभी कुछ नियंत्रण का सामर्थ्य भी है। इस विषय मे बताते हुए संत रज्जब लिखते हैं-

'सूरज रूपी साइयाँ, साधू सूरज कांति।
उभय अकर्ता करें भी, जन रज्जब बिन तांति।' [२१]

संत रज्जब मानते हैं कि मनुष्य की मुक्ति का मार्ग उसके शरीर के भीतर से ही है। विडंबना यह है कि वह इसे बाहरी स्रोतों में खोजता रहता है। वह बताते हैं कि सतगुरु इसी शरीर के द्वारा मुक्ति का मार्ग साधक को बताते हैं। सतगुरु की सहायता से साधक अपनी मंजिल अर्थात परमात्मा को आसानी से प्राप्त कर सकता है। रज्जब ने यहाँ भी गुरु को मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार किया है-

'तन मन में मारग मिल्या, सतगुरु दिया दिखाय।
जन रज्जब रमि राह उस, परम पुरूष कने जाय।'[२२]

रज्जब मानते हैं कि राम (ब्रह्म) का प्रभाव ऐसा है कि उनके दर्शन मात्र से ही पूरी दुनिया राममय दिखने लगती है। उन्होंने इसका उदाहरण देते हुए बताया कि जब तक पैर के नीचे पृथ्वी होती है तब तक तो पैर के नीचे माटी और पृथ्वी के अवशेष होते हैं किन्तु ज्यों ही पृथ्वी के नीचे जूता आता है तब पृथ्वी की अवस्था छोटी हो जाती है और वह जूते तक ही सिमटकर रह जाती है-

'पीत-वायु जब दृष्टि ह्वै, तब पीला संसार।
त्यों रज्जब राम हिं मिल्यों, सब दिशि सिरजनहार।' [२३]

रज्जब का मानना कि ईश्वर पार और अपार के परे हैं। यह भेद मनुष्यों में हो सकता है किंतु ईश्वर में नहीं। उनकी दृष्टि में परमात्मा क्षीर सागर के समान हैं। वह मानते हैं कि जैसे क्षीर(दूध) का पूर्णरूपेण पान करके कोई क्षीरसागर पार नहीं जा सकता किन्तु उसका एक

बूंद जिह्वा को मिल जाने पर उसका स्वाद उससे दूर नहीं जाने देता। ठीक यही स्थिति परमात्मा की है। उसका थोड़ा सा अंश मात्र देख लेने के बाद कोई भी उससे दूर नहीं जा सकता। रज्जब लिखते हैं-

'खालिक क्षीर समुद्र है, पीकर होय न पार।
रज्जब रंचक चाखतों, सेवक रह्या न वार।'[२४]

रज्जब के अध्येता डॉ. ब्रजलाल वर्मा उनकी भक्ति के बारे में लिखते हैं- 'रज्जब ने कबीर और अपने गुरु दादू जी की विचार-परम्परा में ही वेद, पुराण, शास्त्र, उपनिषद, कुरान, कलाम, आयत में प्रतिपादित जटिल धर्म को बिना उसे शास्त्र परम्परा से च्युत किये सहज एवं सामान्य जन सुलभ बना दिया है।'[२५]

रज्जब का काव्य भक्ति परम्परा में कबीर और दादू की परम्परा का काव्य है। उनके यहाँ नाथों और सिद्धों से चली आ रही अजपा जाप जैसी परम्परा का स्रोत मिलता है। निर्गुण कवियों की भाँति उनके काव्य में संसार के प्रति मिथ्या का भाव, क्षणभंगुर जीवन, माया आदि की चर्चा पर्याप्त रूप से मिलती है। रज्जब का काव्य न सिर्फ निर्गुण काव्य परम्परा में मूल्यांकन योग्य है, अपितु हिन्दू और इस्लाम की संस्कृति के बीच दोनों ध्रुवों को मिलाने वाले काव्य के नवीन सेतु के रूप में मूल्यांकन योग्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. परशुराम चतुर्वेदी-उत्तर भारत की संत परम्परा-लोकभारती प्रकाशन प्रयागराज-संस्करण २०१६ पृष्ठ २६६
२. वही-पृष्ठ २६६
३. हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य की भूमिका-राजकमल प्रकाशन दिल्ली-संस्करण २०१७ पृष्ठ १०३
४. डॉ. अलका मिश्रा-संत दादूदयाल और उनकी शिष्य पम्परा(लेख)-अनुशीलन पत्रिका-सं. नरेंद्र मिश्र-वर्ष ६३ अंक १-२, पृष्ठ २६६
५. संत रज्जब-श्रीरज्जबवाणी(टीकाकार-स्वामी नारायणदास)-प्रकाशक नारायणसिंह शेखावत अजमेर-संस्करण १६६७, पृष्ठ ४
६. वही, पृष्ठ ८
७. वही, पृष्ठ १०३
८. वही, पृष्ठ १२०
९. वही, पृष्ठ १२५
१०. वही, पृष्ठ १४६
११. वही, पृष्ठ १५१

१२. वही, पृष्ठ १५३
१३. वही, पृष्ठ १५६
१४. वही, पृष्ठ १६८
१५. वही, पृष्ठ १८३
१६. वही, पृष्ठ २०१
१७. वही, पृष्ठ २३०
१८. वही, पृष्ठ २८३
१९. वही, पृष्ठ २८८
२०. वही, पृष्ठ ३१९
२१. वही, पृष्ठ ३४४
२२. वही, पृष्ठ ३६४
२३. वही, पृष्ठ ३७७
२४. वही, पृष्ठ ३९३
२५. डॉ. ब्रजलाल वर्मा-संत रज्जब सम्प्रदाय और साहित्य-राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, संस्करण १९६५-पृष्ठ ८९

-आचार्य (हिन्दी-विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
मो०: ९४१५६१३१९४

सामाजिक विसंगतियों का दस्तावेज : गज़ल

–डॉ० अशोक कुमार

गज़ल उर्दू की एक प्रतिष्ठित और आम जन जीवन से जुड़ी लोकप्रिय साहित्यिक विधा है। जो मानव जीवन के हर्ष-विषाद सुख-दुख, आशा-निराशा, अमीरी-गरीबी, शोषण, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवम समसामयिक समस्याओं का प्रतिनिधित्व कर रही है। लेकिन आज गज़ल भारत के विभिन्न भाषाओं में सार्वभाषिक विधा के रूप में विकसित हो रही है। हिंदी साहित्य का कोई ऐसा कवि नहीं होगा जिसने अमीर खुसरो, मीर, गालिब, फिराक गोरखपुरी, फैज़, नासिर, काज़मी, परवीन शाकिर, कैफ़ी आजमी, गुलजार, फ़राज़ आदि का नाम नहीं सुना होगा। हिंदी के गज़लकार अपने जीवन संघर्षों, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विसंगतियों को पूरी ईमानदारी के साथ इस विधा के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहा है। ''गज़ल मूलतः अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है औरतों की बातें अथवा औरतों से बातें करना। फारसी में गज़ल शब्द को ''वाजनान, गुफ्तगू करदन'' से व्याख्यायित किया गया है जिसका अर्थ है कि स्त्रियों से प्रेम भरी बातें करना। गज़ल शब्द गाज़ाला से बना है। गाज़ाला हिरण के बच्चे को कहा जाता है। शिकारी जब हिरण के बच्चे का शिकार करते थे। तीर लगने के पश्चात उसे बच्चे का क्रंदन अथवा अर्तनाद अंततः गज़ल के रूप में प्रसिद्ध हुआ। गज़ल यानी वेदना अथवा आर्तनाद।''[१] कुछ विद्वान गज़ल शब्द का संबंध गाजाला (हिरण), गिज़ाला/गाजाला (हिरणी) से जोड़ते हैं जब कि यह तर्कसंगत नहीं है। ''अरबी भाषा गज़ल का अर्थ है- स्त्रियों के रूप लावण्य की चर्चा या तत्संबंधी अपनी मनोभावनाओं को अभिव्यक्ति देना। कालांतर में गज़ल में अभिव्यक्ति प्राप्त कर रहे सांसारिक या स्थूल प्रेम (इश्क मजाजी) के साथ-साथ आध्यात्मिक या सूक्ष्म प्रेम (इश्क हकीकी) को भी स्वर प्राप्त हुआ।''[२]

लगभग १३वीं शताब्दी में फारसी में हिंदी में गज़ल काव्य विधा को लाने का श्रेय महान कवि अमीर खुसरो को जाता है जिन्होंने भाषा और भूगोल की सीमाओं से बाहर निकाल कर पूरे देश में लोकप्रियता के शिखर पर प्रतिष्ठित किया। उर्दू के गज़लकार भारत में गज़ल के माध्यम से आम जनता में प्रभाव जमाने के लिए इसलिए सफल हुए क्योंकि उनकी गज़लें जिस भाव पर आधारित थी वह तत्कालीन युग के मनुष्य की आधारभूत भाव नहीं थी। उनके द्वारा रचित गज़लों में उदासी, निराशा, विरह की तड़प, प्रेमिका द्वारा उपेक्षा, सुख-दुख, हर्ष, विषाद,

निष्ठुरता आदि को इतने मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की यथार्थता का चित्र एक साथ मिल जाता है। उर्दू से अलग हिंदी साहित्य में गज़ल सभी पाठकों के लिए परिचित विधा है। संत कबीर हो या लाला भगवान दीन, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, बद्रीनाथ चौधरी प्रेमधन, प्रताप नारायण मिश्र, छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद, राष्ट्रवादी कवि मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह, दुष्यंत कुमार, शंभूनाथ सिंह आदि का गज़ल के साथ अटूट सम्बन्ध रहा है। आज हिन्दी कविता में सबका गज़ल विधा इतनी लोकप्रिय हो रही है कि विभिन्न पत्र पत्रिकाओं और सोशल मीडिया के माध्यम से निरंतर अपनी पहचान बना रही है। हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक नवजागरण का बैतालिक एवं विद्रोही कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला द्वारा रचित ''बेला'' का प्रकाशन सन् १९४६ में हुआ जिसमें २८ गीतनुमा गज़लें उपलब्ध हैं। इन गज़लों के संदर्भ में आचार्य नंदकिशोर नवल लिखते हैं ''इन गीत व गज़लों में भरपूर विषय वैविध्य है, यथा रहस्य, प्रेम, प्रकृति, दार्शनिकता, राष्ट्रीयता आदि निराला की गज़लें एक प्रयोग के तहत लिखी गई है। उर्दू शायरी की एक चीज़ उन्हें बहुत आकर्षित करती थी। वह थी उसमें पूरे वाक्य का प्रयोग। उन्होंने हिंदी में गज़ल लिखकर उसे हिंदी में भी लाने का ऐतिहासिक प्रयास किया। हिंदी आलोचकों ने उनके इस प्रयास को एक नकल भर माना और उन्हें असफल गज़लकार घोषित कर दिया। सच्चाई यह है कि आज हिंदी में जो गज़लें लिखी जा रही हैं, उनके प्रेरणा स्रोत निराला ही हैं।''[३] निराला ने अपनी गज़ल में देश और सामाजिक परिवेश का वर्णन करते हुए प्रकृति का सहज चित्रण किया है। उन्होंने किसान और मजदूरों का शोषण करने वाली व्यवस्था का विरोध करते हुए सामाजिक विषमताओं और आर्थिक असमानताओं पर पूंजीपति, राजनीतिक वर्ग, सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों पर व्यंग्य करके आम जनता की चेतना को जागृत कर उन्हें संघर्ष करते हुए जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं –

''जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाओ, आओ, आओ।
आज अमीरों की हवेली, किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली खोलेंगे अंधेरे का ताला, एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।
यहां जहां सेठ जी बैठे थे, बनिए की आंख दिखाते हुए, उनके ऐंठाये ऐंठे थे,
धोखे पर धोखा खाते हुए, बैंक किसानों का खुलवाओ'' [४]

इस प्रकार निराला ने निर्भीकता के साथ समाज में व्याप्त विषमताओं और रूढ़िवादी परंपराओं पर कटाक्ष करते हुए तत्कालीन समाज में पूंजीवादी सभ्यता, भुखमरी, गरीबी, शोषण, शोषकों के प्रति आक्रोश, शोषितों एवं पीड़ितों के प्रति सहानुभूति को अपनी गज़ल का विषय बनाया। हिंदी साहित्य में भारतेंदु हरिश्चन्द्र और निराला के बाद गज़ल को प्रतिष्ठित करने

वाले कवियों में शमशेर सिंह ऐसे गजलकार हैं जिन्होंने अपनी गजलों में कल्पना की जगह यथार्थ को अभिव्यक्ति किया है। उन्होंने अपनी गजलों में संवेदनहीन हो रही बाजारवाद, पूंजीवाद, लोकतंत्र और राजनीति पर व्यंग्य किया है। हिंदी गज़ल को प्रगतिवाद का स्वर देने वालों में दुष्यंत कुमार का नाम अग्रणीय है। उनके संदर्भ में कमलेश्वर ने ठीक कहा है। ''अगर दुष्यंत कुमार नहीं होते, हिंदी गज़ल भी नहीं होती। भारतेंदु हरिश्चन्द्र, हरिऔध, निराला, शमशेर त्रिलोचन उसे रूपाकार नहीं दे पाए थे, लेकिन इसके बावजूद हिंदी गज़ल को मातृ भाषाई सीमा में कैद करके देखना गलत है। इसे पूरी दकनी एशियाई सभ्यता के महत और सांस्कृतिक स्वर के रूप में पहचाना जाना चाहिए जो अरब को इरान से, ईरान को भारत से और भारत को मिस्र, लीबिया, ईराक, अफगानिस्तान और आज की पाकिस्तान से जोड़ती है। राजनीतिक इकाइयां टूट सकती हैं, लेकिन सांस्कृतिक सच्चाईयां नहीं टूट सकती और गज़ल ने इसी सांस्कृतिक सच्चाई को जीवित रखा है। पाकिस्तान के न जाने कितने गज़लों और गज़ल गायक भारत की जनता की सरताज बने हुए हैं''[५] आज की गज़ल किसी भी भाषा उर्दू की हो या हिंदी की अपने दायित्व का निर्वाह करती हुई आम जनमानस की चेतना को जागृत कर रही है।

''सारिका'' पत्रिका के दुष्यंत कुमार स्मृति अंक में कमलेश्वर ने अपने संपादकीय में लिखा है- ''दुष्यंत अपने सपनों को लेकर आया था ओर आम आदमी का सपना देकर चला गया। उस आदमी का सपना जो अपने विराट समय को पहचानते हुए उसी में जीता और मरता है।''[६] हिंदी गज़लों का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि आधुनिक काल में गज़ल आशिक और माशूक की कहानी से आगे निकलकर आम जनता की आवाज बन गई है। संत कबीर, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण मिश्र, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, शमशेर सिंह, दुष्यंत कुमार, डॉक्टर शंभू नाथ सिंह आदि ने गज़ल को नए विचारों से समृद्ध कर उसे नई पहचान दी है। उन्होंने देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं समसामयिक समस्याओं को यथार्थ शैली में प्रस्तुत कर देश की जनता को नवीन चेतना प्रदान की है। दुष्यंत कुमार की गज़ल पुस्तक ''साए में धूप'' १९७५ ईस्वी में प्रकाशित हुई। इन गज़लों में एक ओर जनमानस की पीड़ा का मार्मिक चित्रण देखने को मिलता है तो दूसरी ओर भारतीय समाज में फैले अन्याय, भ्रष्टाचार और अनैतिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त हुआ है। यह गजलें, मानवीय चेतना से ओत-प्रोत होने के कारण आज भी उतने ही प्रासंगिक लगते हैं जितने उनके समय में। ''साए में धूप'' में आजादी के बाद राजनीति में व्याप्त विद्रूपों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं-

''कहां तो तय था चिराग हरेक घर के लिए, कहां चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।

यहां द्रख्तों के साए में धूप लगती है, चलो यहां से चलो और उम्र भर के लिए। न हो कमीज तो पावों से पेट ढंक लेंगे, यह लोग कितने मुनासिब हैं, इस सफर के लिए। खुदा नहीं, न सही, आदमी का ख्वाब सही, कोई हसीन नज़ारा तो है नज़र के लिए। वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता, मैं बेकरार हूं आवाज में असर के लिए''[७]

इस गज़ल के माध्यम से दुष्यंत ने स्वतंत्रता से पहले आम जनता ने उस समय में आजादी के बाद की खुशहाली जो स्वप्न लिया था उस स्वप्न के मोहभंग की पीड़ा व्यक्त करते हुए राजनीतिज्ञों के सिद्धांत और व्यवहार, कथनी और करनी में अंतर एवं जनता की उदासीनता का यथार्थ चित्रण किया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि हिंदी में गजलें बहुत सी लिखी गई हैं लेकिन बहुत कम गजलें पाठकों की स्मृति में जगह पाने में सक्षम सिद्ध हुई हैं जिस में दुष्यंत कुमार की गजलें सर्वोपरि हैं। डॉ० वशिष्ठ अनूप हिंदी गजल की प्रगति के प्रति संतुष्टि का भाव व्यक्त करते हुए कहते हैं ''दुष्यंत के बाद हिंदी गजल में कोई प्रगति नहीं हुई - इस प्रकार के कथन अज्ञानता पूर्ण और हास्यस्पद हैं जिस प्रकार जीवन समाज ओर मानवीय प्रवृत्तियां ठहरी हुई न होकर गतिशील और परिवर्तनशील हैं। यह बात गज़ल के विषय में भी सत्य हैं।''[८]

दुष्यंत कुमार से पहले हिंदी कवियों को गज़ल विधा में वह पहचान नहीं मिली जो पहचान दुष्यंत कुमार को पाठकों और श्रोताओं के माध्यम से मिली। आज हिंदी गज़लें गंभीरता के साथ चिंतन की ऊंचाइयों को छूते हुए उन्नति की ओर अग्रसर है। हिंदी गज़लों में फारसी और उर्दू भाषा के शब्दों का जो अधिपत्य था, वह अब धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। हिंदी के साथ-साथ पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली, सिंधी आदि असंख्य भाषाओं में गजलें लिखी जा रही है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समसामयिक समस्याओं पर प्राथमिकता देते हुए गजलें लिखी जा रही है तथा महफिलों से निकलकर मानस चेतना से जुड रही हैं। डॉ भावना के शब्दों में ''एक ओर उर्दू गजल का जन्म जहां राजदरबारों, नर्तकियों के कोठे मंदिरों एवं पूजा घरों में देवी देवताओं की पूजा अर्चना के लिए हुआ है वही समकालीन हिंदी गजल का जन्म असंतोष, आक्रोश और प्रतिरोध की सार्थक अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।''[९] इस प्रकार हिंदी गज़लों में आम जन के प्रति संवेदना मूलक दृष्टिकोण अपना कर समसामयिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण कर लेखक और पाठक के बीच समन्वय स्थापित करता है। पाठक को यह अनुभव होने लगता है कि गज़लकार उनके मनोभावों को अभिव्यक्त कर रहा है। गज़ल का मूल लक्ष्य मानवीय अनुभवों, भावनाओं को व्यक्त करना हैं जब यह किसी विषय के साथ आत्मीयता से जुड़ती है तो रचनाकार सांस्कृतिक, सामाजिक आदि विषयों से सम्बन्धित अपने मनोभाव सांझा करते हैं। गज़ल की प्रासंगिकता तब और बढ़ जाती है जब संदेश को समाज में संप्रेषित कर

श्रोताओं के हृदय में जगह बनाए रखने की क्षमता रखती है। आज वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सांप्रदायिकता, आतंकवाद, अलगाववाद, जातिवाद, भाषावाद, पारस्परिक घृणा, ईर्ष्या, वैर आदि कई समस्याएं पनप रही हैं। इतिहास साक्षी है कि भारतीय दर्शन अनेकता में एकता का दर्शन है इसलिए पूरे विश्व में बंधुत्व भाव को पुनः प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। हिंदी गजलों में गजलकारों की व्यापक चिंतन और उनके जीवन दृष्टि का प्रभाव है कि गजलों में हमें सामाजिक यथार्थ का समावेश देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदी गजल लेखन में गजलकारों ने सामाजिक विषमताओं, कुत्सित राजनीति, भ्रष्टाचार, रूढिवादी परम्पराओं के प्रति प्रतिकार, विद्रोह, असहमति, विरोध का स्वर जनमानस में अलख जगाने का काम कर रही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. एस.के. पाण्डेय, आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ-६६

१ ज्ञान प्रकाश विवेक, हिंदी गज़ल की विकास यात्रा, हरियाणा साहित्य अकादमी पंचकूला, संस्करण २००६ पृष्ठ ११

२ डॉ० नरेश गजल शिल्प और संरचना, हरियाणा साहित्य अकादमी पंचकूला, संस्करण २०१७, पृष्ठ १

३ हरेराम समीप, हिंदी गजल की पहचान, एनीबुक प्रकाशसन संस्करण २०२३, पृष्ठ १०

४ सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, राग विराग, रामविलास शर्मा (संपादक) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ १३७

५ डॉ० अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण २०२० पृष्ठ १४१

६ ज्ञान प्रकाश विवेक, हिंदी गज़ल की नई चेतना, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, संस्करण २०२१, पृष्ठ ६८

७ दुष्यंत कुमार, साए में धूप, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

८ नया ज्ञानोदय (पत्रिका) गजल विशेषांक, हिंदी वांग्मय और गजल, ऐतराम इस्लाम, जनवरी २०१३, पृष्ठ १५०

९ अनिरूद्ध सिन्हा (संपादक) आधुनिक हिंदी गजल सामूहिक संवेगों का आख्यान, समकालीन हिंदी गजल : सामाजिक विसंगतियों का अनुभव जन्य दस्तावेज, डॉ० अशोक कुमार समन्वय प्रकाशन, गाजियाबाद संस्करण २०१९ पृष्ठ ७६

-सह आचार्य, हिन्दी विभाग
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हि०प्र०
मोबाईल ८८९४५३५३३१

प्रवासी मजदूरों की वेदना का दस्तावेज : लाल पसीना

–डॉ० अनिला मिश्रा

हिन्दी साहित्य जगत में कुछ वर्षों से विभिन्न विमर्श अपनी पहचान बनाते जा रहे हैं। जब भी समय-समय पर कोई अनछुआ विषय साहित्य में उठाया जाता है तब वह एक विमर्श के रूप में लोगों के समक्ष प्रस्तुत होता है क्योंकि साहित्य प्रारंभ से ही हमारे समाज के विभिन्न पहलुओं को, सोच को अभिव्यक्ति देता रहा है। इसी क्रम में 'प्रवासी साहित्य' जब हम सुनते हैं या पढ़ते हैं तब सबसे पहले हमारे मन-मस्तिष्क में इसे लेकर कई प्रश्न उभरने लगते हैं। 'प्रवासी' अर्थात् जो यात्रा करता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है। वह चाहे केवल भ्रमण के लिए हो या वहाँ जाकर बसने के लिए। जो लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बसते हैं वे हमेशा अपने गाँव , देश की आत्मा को अपने साथ ले जाते हैं यही कारण है कि जब एक व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थायी होता है तब वह वहाँ की जीवनशैली को भी अपने ऊपर ओढ़ लेता है लेकिन भीतर से तो वह अपने आप को अपनी जमीन से अलग नहीं कर पाता है। अपने गाँव, देश और परिवारजनों से दूर होने का उसे हमेशा दुःख होता है और ऐसे में जब विदेश में उसे ऐसा लगे कि वह अकेला है , उसका वहाँ कोई नहीं है तब उनकी वह अनकही वेदना साहित्य के माध्यम से प्रस्फुरित होती है।

बहुत पहले से विदेश की धरती यहाँ के लोगों को आकर्षित करती रही है। जब भी हम वहाँ की चकाचौंध से भरी जीवनशैली के बारे में सुनते हैं तब वह अनायास ही हमें अपनी ओर आकर्षित करने लगती है, लेकिन जब वहाँ जाकर उसे नजदीक से देखते हैं तब वह मृगतृष्णा से अधिक और कुछ प्रतीत नहीं होता। पहले लोगों को लालच देकर दूसरे देश ले जाया जाता था और अब व्यक्ति स्वयं ही अच्छी जीवनशैली की चाह में विदेश की ओर रुख करता है। विदेश में बसे भारतीय साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से उन भारतीयों की स्थिति को प्रस्तुत किया है जो विदेश में रहते तो हैं लेकिन उन्हे हमेशा ही अपने देश की याद सताती है। वे चाहकर भी लौंट नहीं पाते। भागती-दौड़ती जिन्दगी में कब अपने लोग छूट जाते हैं उन्हें पता ही नहीं चलता। विदेश में व्यक्ति अपना खून-पसीना एक कर एक नई दुनिया बसाना चाहता है और वह बसाता भी है लेकिन फिर भी उसे सुकून नहीं महसूस होता।

कई प्रवासी साहित्यकारों ने अपनी लेखनी द्वारा प्रवासियों की वेदना को अभिव्यक्त किया

है। प्रवासियों की यह वेदना कहीं न कहीं उनकी अपनी वेदना है। क्योंकि किसी के लिए भी अपनी संस्कृति और अपने संस्कारों को एकदम छोड़कर दूसरी संस्कृति और संस्कारों को अपनाना आसान नहीं होता है। प्रवासी लेखकों ने भी दो प्रकार के साहित्य का लेखन किया है एक वह जिसमें व्यक्ति अपने मूल से कटकर भीतर ही भीतर छटपटाता रहता है और दूसरा वह जहाँ पश्चिमी रंग-ढंग, जीवनशैली, मुक्त वातावरण उसे आकर्षित करता है। कोई भी लेखक जब अपने अतीत का चित्रण करता है तब उसमें कहीं न कहीं अपनेपन की भावना का चित्रण होता है और जैसे ही वर्तमान का चित्रण होने लगता है वैसे ही परायेपन का भाव सहज ही जन्म ले लेता है। उसके पश्चात लेखक की मानसिक संवेदना संघर्ष का सामना करती है और इस संघर्ष से एक नए साहित्य का जन्म होता है। जो लोग अपनी इच्छा से या मजबूरीवश अपने लिए रोजगार की तलाश या आर्थिक दृष्टि से अच्छे जीवन के लिए अपने देश को छोड़कर विदेश जाते हैं उन लोगों ने अपने परिश्रम से बेगानी धरती को इस योग्य बनाया कि वह उन्हे कुछ दे सके परन्तु ऐसा करने में इन लोगों को न केवल आर्थिक संकटों से गुजरना पड़ा बल्कि शारीरिक और मानसिक गुलामी तथा रंगभेद व हीनता को भी सहना पड़ा। एक व्यक्ति पराए देश में कितना विवश, असहाय हो सकता है यह हमें अभिमन्यु अनत के 'लाल पसीना' उपन्यास में दिखाई देता है। जानवरों से भी बत्तर जिन्दगी जीने के लिए व्यक्ति विवश हो जाता है। उसे अपने अधिकार के लिए गिड़गिड़ाना पड़ता है।

विदेशी धरती पर भारतीयों का लहू पसीने की तरह बहता है जिसमें उनकी तड़प और बेबसी है। जीवन के सुहाने सपने खून की तरह कतरा-कतरा बह जाते हैं। 'लाल पसीना' उपन्यास ऐसे मजदूरों की कहानी है जो सुखी जीवन के सपने आँखों में संजोए विदेश की धरती पर आते हैं लेकिन गोरे जमींदारों की क्रूरता उनका जीवन नर्क कर देती है। झे.एम. सी लेक्लेज्यं ने इस किताब की भूमिका में लिखा है- ''अफ्रीकी दासों की यातनाओं के बाद भारतीय मजदूरों के साथ गोरे जमींदारों की क्रूरता जारी रही, गोया कि ये भारतीय मजदूर आदमी नहीं थे ! ये लोग सिर्फ औजार समझे गए, बल्कि गोरे जमींदारों की रखवाली करनेवाले कुत्तें।" यहाँ के लोगों को सुनहरे सपने दिखाकर विदेश ले जाया जाता और वहाँ एक कैदी की तरह रखा जाता। रहने के लिए न ढंग का घर और खाने के लिए न पेट भर अनाज। फिर भी जानवरों की तरह काम कराया जाता।''[१] भारतीयों के इस प्रकार की स्थिति का वर्णन करने के पहले इतिहास को जानना आवश्यक हो जाता है। इस उपन्यास का प्रारंभ इतिहास के इसी एक पन्ने से प्रारंभ होता है जहाँ दो भिक्षु एक नये स्थान की खोज में निकलते हैं और बीच समुद्र में सागर को फाड़कर पहाड़ सी एक चीज ऊपर आती दिखाई देती है। द्वीप विस्तृत होता गया और जब ज्वालामुखी से अंगारे निकलने बंद हो गए तब 'इसी महासागर के बीच एक नए द्वीप का जन्म हुआ' बंजर जमीन धीरे-धीरे हरी-भरी होने लगी। बहुत से नाविक यहाँ आए

लेकिन ऊजड़ होने के कारण कोई वहाँ ठहरा नहीं, इनमे द्रविड नाविक, अरबी, पुर्तगाली आदि सभी थे। ''जब भारत पर अधिकार प्राप्त करने के लिए फ्रांस और इंग्लैंड के बीच संघर्ष हुआ तब इस द्वीप को भारत विजय की सुविधा के लिए लक्ष्य में रखा गया। इसी द्वीप से होकर फ्रांसीसियों ने मद्रास में अंग्रेजों के खिलाफ पहली लड़ाई लड़ी। इन्हीं लोगों के समय में मॉरिशस में भारतीयों का आगमन शुरू हो गया था। इस द्वीप के महत्व को समझकर अंग्रेजों ने भारतीय सेना के साथ फ्रांसीसियों पर आक्रमण किया और द्वीप उनके अधिकार में आ गया।''[२] उसके बाद भारतीयों का इस द्वीप पर आना प्रारंभ हुआ। इस बंजर धरती को उपजाऊ करने के लिए ऐसे मजदूरों की आवश्यकता थी जो जी तोड़ मेहनत कर सके और इसी कारण भारत के बिहार से लोगों को यहाँ लाया जाने लगा। इन लोगों को इस बात का एहसास भी नहीं था कि वे किस नर्क में जा रहे हैं। दमन, शोषण और अपमान भरा जीवन यहाँ उनका इंतजार कर रहा था। सोने के सपने दिखाकर उनके शरीर का लहू भी निकाल लिया जाएगा यह उन्हें कहाँ पता था। ईख की खेती के लिए इन्हें लाकर नर्क सी यातना दी जाती थी। उपन्यास का प्रारंभ कुन्दन की उन स्मृतियों से होता है, जहाँ वह कैदखाने से भागकर खुले जंगल में साँस लेता है, लेकिन उसके जहन में वह कैदखाना, अब भी जीवित था ३० वर्ष के लम्बे कैद ने उसे समय से पहले ही बूढ़ा बना दिया था। उसे अपना अतीत याद आता है जब वह १६ वर्ष की आयु में टुकडी का सबसे जवान सिपाही था और बहादुरी के लिए जाना जाता था। लेकिन ''एक दिन सिपाही जीवन के दस साल बाद मॉरिशस को जीतने की चाह लिए वह भी सैकड़ों भारतीय सिपाहियों के साथ जहाज पर सवार हो गया। सभी सिपाहियों की तरह उसे भी यही बताया गया था कि अंग्रेज मॉरिशस को फ्राँसीसियों से जीतकर भारतीयों के हवाले कर देंगे। अंग्रेजों के चंद ठेकेदारों ने सभी सिपाहियों को यही सुनाया था कि उनकी वफादारी और वीरता के लिए मॉरिशस उन्हें भेंट कर दिया जाएगा।''[३] इसी भावना के साथ वे सभी मॉरिशस आ गए। उसे इस बात की खुशी थी कि भारत में तो वे गुलाम थे, मॉरिशस में कम से कम स्वतंत्र होंगे। भारत में उस समय गुलामी और महामारी का कहर इस कदर छाया हुआ था कि उनके स्वजन तो पहले ही अकाल के शिकार हो चुके थे। जैसे ही विदेश की धरती पर उसके कदम पड़े वहाँ की वास्तविकता उसे दिखाई देने लगी। बिहारियों की तन तोड़ मेहनत, भविष्य सुधरने की आस, हंटरों की आवाज, चीख, विवशता सबकुछ और इतना सब होने पर भी भरपेट भोजन का न मिलना। कभी-कभी बूयों के ऊपर सजीहन के चार-पाँच पत्तों के सिवाय कुछ न होता, इतना ही नहीं और कभी उस पानी में नमक इतना ज्यादा की कोई खा न सके। बिमारी की हालत में न भोजन, न अस्पताल, न डॉक्टर, न दवाई यह स्थिति थी मजदूरों की। एक-एक कर उनके सपने टूटने लगे थे। फिर भी न जाने किस जीवन की चाह में वे जी रहे थे। ''पत्थरों के नीचे सोना पाने की वही एक-सी चाह लिए 'मारीच देसवा'

पहुँचना। जहाज से उतरते ही गले में नम्बर लटकाए खेतों को झोंका जाना। आधा पेट खाना, आधी देह कपड़ा। पीठ पर बाँसों की बौछार और कोई बैल जैसा काम करने से इनकार करे तो जेल, कोई भारत लौटने की माँग करकें, कोई न्याय की दुहाई करता हुआ, तो कोई बिमारी की वजह से तीन दिन नौकरी पर न पहुँचने के कारण यहाँ आया था। किसी की गिरफ्तारी केवल इसलिए हो गई थी कि उसने अपने गले से नम्बर लिखे टीन के टुकड़े को निकाल फेंका था..... किसी ने सरदार की माँग पर उसने अपनी खूबसूरत पत्नी को पहली रात मालिक के घर नहीं पहुँचाया था।''[४]

इस उपन्यास में मजदूरों की उस यातना का चित्रण है जो उन्हें जानवर से भी बत्तर बनाती है। कैदखाने में भी अत्याचार किया जाता साथ ही जिस मॉरिशस की धरती को इन मजदूरों ने समृद्ध किया, अपने खून-पसीने से वहाँ की चट्टानों को उपजाऊ मिट्टी में बदला, लेकिन उन्हें तो केवल यातना ही मिली। यहाँ से छूटने के लिए ये प्रयत्न करते लेकिन हरबार निष्फल हो जाते। जिन पशु-पक्षियों को ये अपने देश में देखना नहीं चाहते थे उसी से इन्हे यहाँ अगाध प्रेम हो गया था। गुलामी और यातना भरा जीवन कैसा होता है इसका बड़ा ही हृदयद्रावक वर्णन इस उपन्यास में है। कुन्दन, मंगरु, रूपलाल सभी यातना का शिकार। अपने पत्नी व बच्चों से दूर इस कैदखाने में। गुलामी की इस जंजीर को तोड़ना असंभव लग रहा था क्योंकि- ''बेड़ियाँ होने पर उन्हें तोड़ा जा सकता है, पर जहाँ ये चीजे बाहर न होकर आदमी के भीतर हो वहाँ उन्हें कैसे फाँदा और तोड़ा जा सकता है?''[५] ऐसी स्थिति में भी बस्ती के लोग जी रहे थे क्योंकि उनमें उनकी संस्कृति अब भी बची हुई थी। नाच गाना उनके दर्द को कुछ समय के लिए भूला देता था और वे उसे गीत के द्वारा व्यक्त कर लेते थे।

''ओ रे रे मूसे लँगड़वा के राज में।
कुतवन के बड़ा भाग बा
दुम हिलावल से ओकर त बनल बात बा
मूसे रेतों के राज में।
गोर चाटे के मोल बा
आदमी बा कुत्ता। कुत्ता सरदार बा
ओ रे... रे मूसे।''[६]

गुलामी की जंजीरों में जकड़े इन लोगों के हृदय में प्रेम का अंकुर कहीं न कहीं अब भी पड़ा था जो किसन व पुष्पा के माध्यम से व्यक्त हो रहा था। चारों ओर व्याप्त चीत्कार व्यक्ति को मार रहा था तब एक नये जीवन की आस अब भी थी। किसन इन सबके विरुद्ध आवाज उठाना चाहता था, लेकिन वह महसूस कर रहा था कि- ''बीस-पच्चीस वर्ष से वे जिस जीवन को जीते आ रहे थे, उसके इतने अधिक आदी हो गए थे कि स्थिति में परिवर्तन का विचार

उन्हें कभी छूता भी नहीं था।''[६] हर एक व्यक्ति एक नई आशा लेकर यहाँ आया था। अपने देश की भयावह स्थिति से बाहर निकलने की चाह में ये यहाँ आए थे। जब महामारी ने बिहार की भूमि को तहस-नहस कर दिया था तब लोग अपनी मृत्यु को अपने समक्ष पाकर अपने बच्चों को उससे दूर भेजने के लिए विवश थे। फूलवन्ती को वह समय याद आता है जब- ''आरा के इस छोर से उस छोर तक हाहाकार था। फूलों का गाँव बेबसी की साँसे लेता-सा लग रहा था। खेतों में अस्त-व्यस्तता थी। न काम था, न रोटी थी। फूलों की माँ अपने दो बच्चों को भूख से मरते देख चुकी थी.... तीन दिन की भूखी-प्यासी फूलों के माथे पर हाथ फेरती हुई उसकी माँ ने उससे यही तो कहा था कि बस्ती उजड़ी जा रही थी। सगे-सम्बन्धी सभी रोटी की तलाश में इधर-उधर जा चुके थे। गाँव में कोई नहीं बचा था, जिससे जान-पहचान हो।... वह चाहती थी कि कोई काफिला बनारस की ओर जाता मिल जाए तो वह उसमें से किसी एक व्यक्ति के जिम्मे फूलों को सौंप सके...।''[७] लेकिन माता-पिता को कहाँ यह पता होता है कि वह अपने बच्चों को किस नर्क में भेज रहे थे। जिस सोने की चाह में लोग इस धरती पर आए थे उसने तो उनके पहने गहने भी उतरवा लिए थे। यह कहकर कि- ''यहाँ किसी को गहने पहनने का अधिकार नहीं है....गहनों का बोझ आदमी को आलसी बना देता है। खेतों में काम करने के लिए आलसियों की नहीं, मेहनतकशों की आवश्यकता होती है।''[८]

व्यक्ति विस्थापन इसलिए करता है कि भविष्य के लिए देखे सपनों को वह साकार कर सके। एक अलग, अपरिचित देश में उसे वैसे भी संघर्ष करना पड़ता है लेकिन संघर्ष के अंत में यदि एक अच्छा जीवन मिलता है तो उसे उस संघर्ष का, उस पीड़ा का मलाल नहीं होता, किन्तु जब इस संघर्ष की आग में उसका और उसके भविष्य के सपने खाक हो जाते हैं तब वह तिलमिला उठता है, लेकिन उसकी बेबसी उसे आगे बढ़ने से रोक देती है- ''ये समय को नहीं जीते बल्कि समय इन्हें जीता है और जब तक समय इन्हें जीता है इनके पास कुछ और सोचने के लिए समय ही नहीं होता। परंतु समय को साधते-साधते एक दिन ऐसा भी आता है जब अपना देश और अपनों से बिछुड़ने की पीड़ा सफलता की ऊँचाई को बौना बना देती है। प्रारंभिक दौर में जो आँखें जीवन की चकाचौंध में डूबी रहती थीं, कृत्रिम जगमगाहट का भ्रम टूटते ही सपनों के पीछे गुमसुम पड़ी हुई सपनों की सच्चाई को साफ-साफ देखने लगती हैं।''[९]

अभिमन्यु अनत का यह श्रेष्ठ उपन्यास हमारे समक्ष गुलामों को नहीं बल्कि साहसी और धरती के सपूतो की गाथा को प्रस्तुत करता है। जिन्होंने इतिहास को एक नया आयाम प्रदान किया है। पूँजीपति जमींदारों के साथ के उनके संघर्ष महज एक वर्ग विशेष का संघर्ष नहीं बल्कि लोगों के भीतर वर्षों से दबे विद्रोह का लावा है। किसनसिंह भारत से कुलियों को मॉरिशस ले आता था लेकिन अब तो उसे इस कृत्य से नफरत होने लगी थी- ''अभी औ कब तक करना है उसे कुलियों को लाने का यह धन्धा!...

''.....भारत... बिहार...
..... आरा.....
छपरा.....
दलाल.....कलकत्ता.....जहाज
कुली लोग.....पत्थरों के नीचे सोना
मॉरिशस..... बाँस.....कोड़े
कोल्हू..... महामारी।''[१०]

इन्ही सबके खिलाफ और अपने हक की माँग के लिए भी अब सभी को एक होना जरुरी था। यह उपन्यास जहाँ एक ओर प्रवासी मजदूरों की विवशता का चित्र प्रस्तुत करता है वहीं दूसरी ओर उनके संघर्ष की गाथा भी प्रस्तुत करता है। विदेश की धरती पर अपना सबकुछ दाँव पर लगाने के बावजूद भी ये लोग वहाँ भी अपनी संस्कृति व भाषा को जीवित रखे हुए थे। पीढ़ी दर पीढ़ी यह जिजीविषा चलती ही रहती है।

उपन्यास में कुन्दन से प्रारंभ विद्रोह की आग किसन और उसके बाद उसके पुत्र मदन में भी जलती रहती है। पिता की मृत्यु के बाद मदन मजदूरों का नेता बन जाता है और अपने ही लोगों पर हुए अत्याचार को जब वह पढ़ता, सुनता है तो विद्रोह की आग ज्वालामुखी का रूप ले लेती है। काल के चलते उसकी आँख नष्ट हो जाती फिर भी वह मजदूरों को संगठित करना बंद नहीं करता है। एक लम्बे संघर्षपूर्ण जीवन को, उसके उतार-चढ़ाव के साथ इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि अभिमन्यु अनत ने एक साक्षात्कार में कहा-"लाल पसीना १८५० से १९०० तक की कहानी है। कुंदन का आगमन भारतीय कुलियों के आगमन से २० वर्ष पहले हुआ था। क्योंकि वह कुली के रूप में नहीं, बल्कि सिपाही के रूप में अंग्रेजों के साथ मॉरिशस पहुँचा था। १८५० में किसन के युवा रूप से लाल पसीना आरंभ होता है और उसके पुत्र मदन के युवा रूप में (१९००) में समाप्त होता है। पसीने के रूप में खून बहाने वाले मजदूरों की यह गाथा हमें यह सोचने के लिए विवश कर देती है कि जो स्थिति २०० वर्ष पहले थी कहीं न कहीं आज भी विदेशी धरती पर भारतीयों की यही स्थिति है अंतर केवल उसके स्वरूप में आया है, मानसिकता में नहीं, फिर भी लोग विदेशों की ओर अपने आकर्षण को रोक नहीं पाते हैं। जो लोग विदेश रहकर स्वयं को वहाँ का बताते हैं, वहीं जन्में हैं इसलिए वह उनका देश है उन्हे अपने पूर्वजों के संघर्ष और यातनाओं के विषय में पता होना चाहिए की किस प्रकार दाने के एक-एक कण के लिए वे तरसते थे। या तरसाये जाते थे। ''साहस बटोरकर किसन मालिक की कोठी पर पहुँचा तो उस समय उसके सातों कुत्ते तीन बड़ी हाँड़ियों को घेरे हुए थे, जिनके भीतर के उबले हुए चावल से बस्ती के सभी मजदूर तीन दिन तक अपने पेट पाल सकते थे। किसन ने उन हाँड़ियों को देखा और भूख से विवश जीभ को

होंठों पर आने से रोक लिया, फिर भी एक बार कुत्तों के बीच कुत्ता होकर उन हाँड़ियों पर टूट पड़ने के लिए मन-ही-मन तिलमिलाकर रह गया था।''[११] ऐसे कई प्रसंग इस उपन्यास में वर्णित हैं जो आत्मा को भीतर तक झकझोर देते हैं। बैलों को हटाकर आदमियों से ईख-भरी गाड़ियाँ खिचवाई जाती, जरा देर बैठ जाने पर कोड़ों की बौछार, किसी लड़की के अच्छी लग जाने पर जबरन उसे अपने कोठी पर बुलवाना ये ऐसी घटनाएँ हैं जो गुलामी की निशानी के रूप में मिली हैं। ''आज जो मॉरिशस विश्व में गन्ने पैदा करने वाले प्रमुख देशों में एक गिना जाता है, उसकी बड़ी-बड़ी खेतों में पड़ी चट्टानों के टुकडों को देखकर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि किस प्रकार उन्होंने पथरीली धरती में से चट्टानों को अलग करके वहाँ की जमीन को उर्वरा बनाया।''[१२] 'लाल पसीना' इसी का दस्तावेज है। अभिमन्यु अनत कहते है- ''मैंने उन क्षणों को शारीरिक रूप से तो नहीं जीया.... दादा-दादी और नाना-नानियों की कहानियाँ सुनता रहा..।''[१३]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. लाल पसीना (उपन्यास)- अभिमन्यु अनत, पृ. ७
२. वही पृ. ११
३. वही, पृ. १७
४. वही, पृ. २५
५. वही, पृ. ४४
६. वही, पृ. ५४
७. वही, पृ. ८८
८. वही, पृ. १०१
९. प्रवासी जगत (पत्रिका-अंक-१), पृ. ६३
१०. लाल पसीना (उपन्यास)- अभिमन्यु अनत, पृ. १९१
११. वही, पृ. १७९
१२. उपन्यासकार अभिमन्यु अनत-श्री चित्रा, वी.एस. पृ. २५
१३. प्रवासी जगत- पत्रिका अंक-२, अभिमन्यु अनत विशेषांक केन्द्रिय हिंदी संस्थान, आगरा

-हिन्दी विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय
वल्लभ विद्यानगर, आणंद (गुजरात)
मो०: ९८७९४०५२५५
E-mail: anilamishra0311@gmail.com

स्वाधीनता आन्दोलन में रामचरितमानस की भूमिका

–डॉ० प्रद्युम्न सिंह

स्वाधीनता आन्दोलन के समय रामचरितमानस प्रेरणादायक ग्रन्थ के रूप में जनमानस की चेतना का संचार करता रहा है। स्वाधीनता शब्द का अर्थ ही होता है कि व्यक्ति अपनी आत्मा के अधीन रहे; और आत्मा की अधीनता ही उसे शेष अधीनताओं से मुक्त करती है। चाहे वह राजा की अधीनता हो, चाहे पद की अधीनता हो, चाहे इन्द्रियों के भोग की अधीनता हो।

रामराज्य की विधि या धर्मसम्मत मर्यादा की अवधारणा केवल राजा या शासक के कर्तव्यों का विचार नहीं है अपितु एक ऐसी समग्र राज्य व्यवस्था की निर्मिति है जिसमें सामाजिक जीवन का प्रत्येक कोना धर्म के चार चरणों- सत्य, तप, दया और दान पर अवलंबित होता है।

तुलसीदास युगदृष्टा थे। रामकथा को रामचरितमानस में पिरोकर एक ऐसा अमोघ अस्त्र दे दिया जो अकबर से लेकर औरंगजेब और अंग्रेजों तक की सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध का एक सशक्त उपकरण सिद्ध हुआ। यही नहीं, यदि आज हम अयोध्या में भगवान श्रीराम के मंदिर-निर्माण व प्राण-प्रतिष्ठा के गौरव-क्षण तक पहुंचे हैं, तो उसके पीछे भी कहीं न कहीं तुलसीदासजी और उनके महान ग्रंथ रामचरितमानस की महती भूमिका है, जिसने हमारे आत्मतत्व को एक हजार वर्ष की गुलामी के बाद भी बचाए रखा।

गोस्वामी जी उस अकबर के समयकाल में अवतरित हुए, जिसने समाज की सभी मान-मर्यादाओं को अपने तलवार की नोक पर धूल-धूसरित कर दिया था। जिस तरह रावण के दरबार में पवन देव हवा करते, दिग्पाल दरवाजों पर पहरे देते, और भी जितने देवी-देवता, ग्रह-नक्षत्र थे, सभी रावण के यहाँ चाकरी करते थे। उसी तरह का हाल अकबर के दरबार में भारतवर्ष के राजा-महाराजाओं का था। तुलसीदास को भी अकबर ने अपने नवरत्नों में सम्मिलित होने का प्रस्ताव भेजा था, किंतु बाबा प्रभु श्रीराम के अलावा किसी और के आगे कहाँ झुकने वाले थे! उन्होंने उत्तर दिया-

हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिखौ दरबार।
अब तुलसी का होहिंगे, नर के मनसबदार।।

ऐसे भीषण और वीभत्स काल में तुलसीदास सामने आते हैं और भारतीय लोक मानस

की हताश चेतना को जागृत करने के लिए लोकभाषा के अमरग्रंथ रामचरितमानस की रचना होती है। संवाद-दर-संवाद और कथोपकथन शैली में रामचरित जन-जन के मानस तक पहुँचता है।

तुलसी ने रामकथा को लोकभाषा में रचा भर ही नहीं, उसे लोकव्यापी भी बनाया।गाँव-गाँव रामलीलाएं शुरू हुईं और रामचरित मानस की चौपाइयां कोटि-कोटि कंठों में बस गईं। हताश युवाओं के सामने महावीर हुनमान, बजरंगी का चरित्र रखकर उनमें आत्मविश्वास जगाया कि जिसका कोई नहीं उसके बजरंगबली। हनुमान चालीसा की चौपाइयाँ मंत्र बनकर लोगों को निर्भय करने में सहायक हुईं। गाँव-गाँव हनुमान मंदिर और उससे जुड़ी व्यायामशालाओं ने तरुणाई में पौरुष का संचार किया।

समर्थ रामदास स्वामी ने जब छत्रपति शिवाजी महाराज को सुराज स्थापित करने का मंत्र दिया तो उसे सफल करने का तंत्र भी दिया। यह तंत्र हनुमान जी के मंदिर, उससे जुड़ी व्यायामशालाएं और वहाँ से निकलने वाले वीर तरुणों के समूह के रूप में निकला। इन्हीं वीर तरुणों के पराक्रम की वजह से शिवाजी का साम्राज्य स्थापित हुआ। इन हनुमान व्यायामशालाओं का उपयोग प्रकारांतर में बाल गंगाधर तिलक ने किया। तिलक ने ही मानस की अर्धाली 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' को स्वतंत्रता संग्राम का महामंत्र बना दिया।

तिलक के बाद गाँधीजी ने 'रामचरित' को पकड़ा। गाँधी जी के सपनों का रामराज कोई अलग नहीं, अपितु गोस्वामी तुलसीदास द्वारा वर्णित रामराज ही था। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस में मुक्ति-संघर्ष भर की गाथा नहीं लिखी, बल्कि उन्होंने हमारे स्वाभिमान की प्रतिष्ठा की भी बात की। राजकाज और समाज की बात की, समता और समाजवाद की भी बात की। यह भी बात की कि जिसके राज में प्रजा दुखी होती है, वह राजा परम पातकी और नरक का अधिकारी होता है।

श्रीराम के राज्य में कोई अप्रसन्न न था। प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम और कर्म का उचित फल प्राप्त होता था। सबके साथ न्याय होता था। वस्तुतः रामराज्य की अवधारणा ऐसे सुशासन की कल्पना है, जिसमें सबको योग्य बनने और योग्यता के अनुसार सब प्राप्त करने का अधिकार है। इसमें सर्वत्र पारदर्शिता है। महात्मा गांधी इस रामराज्य के स्वप्न को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'रामायण का प्राचीन आदर्श रामराज्य निःसंदेह सच्चे लोकतंत्र में से एक है। मेरे सपनों का रामराज्य राजा और निर्धन दोनों के समान अधिकारों को सुनिश्चित करता है। मैं जिस रामराज्य का वर्णन करता हूं, वह नैतिक अधिकार के आधार पर लोगों की संप्रभुता है। वस्तुतः रामराज्य का यह स्वप्न ज्ञात इतिहास में नहीं है। हर कालखंड में संपूर्ण

राजा एवं प्रजा का स्वप्न रहा है। इस स्वप्न को चरितार्थ करता हुआ जो महान कालखंड भारतीय इतिहास में सदा सर्वदा स्पृहा का विषय रहा है, वह मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का राज्य है।' २ अगस्त, १९३४ को अमृत बाजार पत्रिका में प्रकाशित लेख में गांधी जी ने कहा था कि, 'मेरे सपनों की रामायण, राजा और निर्धन दोनों के लिए समान अधिकार सुनिश्चित करती है।'

रामराज्य में मनुष्य और प्रकृति सभी निजधर्म का पालन करते हैं। वे सभी कल्याण के लिए उदारचेता होकर त्याग करते हैं। उनमें संग्रह की प्रवृत्ति नहीं है। इसी प्रकार के रामराज्य की कल्पना हमारे यहाँ है, जिसमें एक राजा से अपेक्षित है कि वह प्रेम, सद्भावना, शांति और स्वशासन की स्थापना करे।

एक राजा के रूप में जिस धर्म और मर्यादा की स्थापना भगवान श्रीराम करते हैं, महात्मा गांधी ने उसी भारत की कल्पना 'हिंद स्वराज' में की है। इसी स्वतंत्र भारत की स्थापना के लिए महात्मा गांधी ने संग्राम किया। उनके आयुध भी श्रीराम के जैसे ही थे। कोदंड धारी राम, असुर निकंदन राम, अहिंसा और करुणा का प्रतीक श्रीराम हैं। गिलहरी और खर-दूषण, मारीच, सूर्पणखा आदि को न्याय देने वाले न्यायी श्रीराम। इन सबके प्रति श्रीराम करुणामय हैं।

जब रावण से युद्ध होता है और आसुरी सभ्यता से आए विभीषण को उस युद्ध में रावण की साज-सज्जा, उसके आयुध, उसके रथ, उसकी गतिशीलता, उसकी तकनीकी को देखकर संशय उत्पन्न होता है। इसका कारण है कि विभीषण भी उसी भौतिकतावादी आसुरी सभ्यता के थे। उनके मन में संशय हो जाता है कि-

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा।।
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।।

तब श्रीराम उनका संशय दूर करते हैं, क्योंकि श्रीराम के लिए स्नेह, दया, सत्य, पवित्रता, मर्यादा, नैतिकता, करुणा, धर्म, साहस इत्यादि सद्गुण ही युद्ध के आयुध हैं। श्रीराम सिद्ध करते हैं कि युद्ध हौसलों व संकल्प से जीता जाता है, आयुध से नहीं। राममय भारत ने स्वतंत्र भारत में जितने युद्ध किए हैं, उसमें इसको चरितार्थ करके दिखाया है।

रामराज्य का जो स्वरूप लोक-स्मृति में है, वही शास्त्रीय चिंतन में है। जिस राम कथा से एक आदर्श राज्य व्यवस्था के रूप में रामराज्य का उदय हुआ, उसे वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक निरंतर दोहराया जाता रहा है। भारत की सभी भाषाओं में पहला महाकाव्य प्रायः रामकथा पर ही लिखा गया है। भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में रामायण की रचना हुई और वह वहां के शास्त्रीय चिंतन और लोक-स्मृति का आधार बनी। हिंदी भाषी

क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को लोक और शास्त्र दोनों जगह महत्व मिला है। उससे हम अन्य भाषाओं में रचित रामायणों के महत्व और उनकी लोकप्रियता के बारे में जान सकते हैं। वास्तव में शास्त्रीय चिंतन से निकलकर ही रामराज्य संबंधी मान्यताएं लोक-स्मृति में आई हैं।

हमारे यहाँ राम कथा का कितना महत्व रहा है, यह इस बात से भी समझा जा सकता है कि राम से संबंधित हमारे तीन बड़े उत्सव हैं। दीपावली १४ वर्ष के वनवास के बाद राम के अयोध्या लौटने का उत्सव है। वह रामराज्य के आरंभ का भी उत्सव है। भारतीय समाज की इस लोक-स्मृति से हम रामराज्य की तीन महत्वपूर्ण विशेषताओं को पहचान सकते हैं। रामराज्य धर्म का शासन है, उसका आदर्श नैतिक है, उसमें राजा और प्रजा दोनों ही धर्म द्वारा शासित होते हैं। वह प्रजा पर राजा का या राज्य का शासन नहीं है। रामराज्य की स्थापना के लिए स्वयं ईश्वर ही अवतार लेकर पृथ्वी पर प्रकट हुए थे। रामराज्य की दूसरी विशेषता यह है कि वह अपराजेय है। वह अनुलंघनीय है। वह पराक्रम में इतना ऊंचा है कि कोई उससे युद्ध करने का साहस न कर सके। वह नीति में इतना ऊंचा है कि कोई उससे युद्ध करने की इच्छा न कर सके। ऐसा शासन ही ईक्ष्वाकु वंश का संकल्प था। उसी में रघु कुल का उदय हुआ। उसी रघु कुल के प्रतापी राजा राम थे।

अयोध्या जिससे युद्ध करना संभव न हो। रामराज्य के इसी आदर्श पर भारत को अपराजेय और अयोध्य होना चाहिए। रामराज्य की तीसरी विशेषता यह है कि उसके राजा राम मर्यादापूर्वक रहते हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उनके अनुकरण पर भारत के सभी राजाओं को मर्यादा में रहने की प्रेरणा मिलती रही है। दुनिया में अन्य सभी जगह राजा को विधि प्रदाता कहा गया है। यूरोप में तो राजा ही लहृ है। इस नाते राज्य ही लहृ गिवर है। लेकिन भारत में राज्य विधि प्रदाता नहीं माना गया था। विधि निर्माण समाज का काम है। उसकी बनाई विधि से ही मर्यादा निश्चित होती है। उन मर्यादाओं का जैसे समाज पालन करता है, वैसे ही राजा भी पालन करता है।

राजा रामचंद्र को तो मर्यादाओं का पालन करने वाले लोगों में सबसे उत्तम कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि भारत में राजा समाज के अधीन है। समाज राजा के या राज्य के अधीन नहीं है। राजा का काम व्यवस्था बनाना नहीं, समाज द्वारा बनाई व्यवस्था की रक्षा करना है। उसकी भूमिका नियंत्रण की नहीं है, नियामक की है। वह दंडाधिकारी है। उन लोगों को दंडित करता है, जो समाज की व्यवस्था का उल्लंघन करते हैं।

रामराज्य में लोग स्वतंत्र होते हैं। वे अपने तंत्र में अनुशासित होते हैं, यह अनुशासन

नैतिक अनुशासन है। वह सार्वभौम सिद्धांतों पर आधारित है। उन सिद्धांतों का बोध एक लंबे अनुभव से भारतीय समाज को हुआ है। उसमें प्रधानता धर्म बोध की है, तार्किक विश्लेषण की नहीं। उसमें राजा और प्रजा सभी अपने-अपने धर्मों का पालन करते हैं। जो लोभ-मोह के वशीभूत होकर उस अनुशासन का उल्लंघन करते हैं, वे लोक और राज्य द्वारा निंदित और दंडित होते हैं। यह अनुशासन सर्वानुमति पर आधारित है। उसमें पूरे समाज की सहभागिता है। पूरे समाज की स्वीकृति है। उसी से समाज समर्थ बनता है। उसका यह सामर्थ्य राज्य की भी शक्ति बनता है। राज्य का मुख्य दायित्व बाहरी शक्तियों से देश की रक्षा करना है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. रामचरितमानस (तुलसीदास कृत) टीकाकार-हनुमान प्रसाद पोद्दार
२. वागर्थ (पत्रिका) अंक २७२, मार्च २०१८, पृष्ठ संख्या ६५
३. वही
४. वही
५. वागर्थ (पत्रिका) अंक २७२, मार्च २०१८, पृष्ठ संख्या ६४
६. ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोरः पोएम्स अहफ कबीर, मैकमिलन, न्यूयार्क, १६१५ पृष्ठ संख्या १३
७. सिंह गोपेश्वरः भक्ति आंदोलन और काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१७, पृष्ठ संख्या ३१
८. गांधीजी, हिन्दस्वराज (अनुवादक अमृतलाल ठाकोरदास नाड़ावटी) नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण २००५, पृष्ठ संख्या ३६
९. वही, पृष्ठ संख्या ३७।
१०. हौली जॉन स्ट्रेटन : भक्ति के तीन स्वर (अनुवाद- अशोक कुमार) राजकमल प्रकाशन, २०१६, पृष्ठसंख्या ७६।
११. सांचा (पत्रिका) अंक जून-जुलाई १६८८, पृष्ठ संख्या ७३।
१२. सिंह गोपेश्वर : भक्ति आंदोलन और काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१७, पृष्ठ संख्या ५७।
१३. तिवारी विश्वनाथ प्रसाद, 'कुछ है', प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या ४७।

-असिस्टेंट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग
हण्डिया पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज हण्डिया
प्रयागराज (उ०प्र०) २२१५०३
मो.नं.-६४५५४०८८०१

⊙

हड़प्पा सभ्यता की कला-संस्कृति में, धार्मिकता की झलक

–विवेक सुमन शर्मा

सिन्धु सभ्यता, भारतीय संस्कृति का आधार की भूमिका निभाती है क्योंकि यह सभ्यता २२०० ई०पू० से १७०० ई०पू० के आस-पास फली-फूली तथा इसकी खोज १९२१ ई० में दयाराम साहनी ने हड़प्पा नामक स्थल से, हड़प्पा सभ्यता के अवशेष पाये तथा इसी कारण इस सभ्यता को हड़प्पा की सभ्यता, सिन्धु घाटी की सभ्यता तथा सरस्वती घाटी की सभ्यता के नाम से भी सम्बोधित करते हैं तथा आज की खोज के अनुसार पुरातत्त्वविद तथा इतिहासकार, सरस्वती सभ्यता ज्यादा उपयुक्त नाम बताते हैं, क्योंकि आज के खोज तथा नासा द्वारा सेटलाइट, फोटो के माध्यम से सरस्वती नदी के बहने का रास्ता को दर्शाया है तथा उनकी बात सच मानी जाय तो, अधिकांश हड़प्पा सभ्यता के स्थल सरस्वती नदी के आस-पास ही स्थित है तथा इसमें इतिहासकारों का आज भी विवाद है कि इसका उपयुक्त नाम क्या होना चाहिए, जैसे-जैसे इस सभ्यता का उत्खनन और होता जायेगा वैसे-वैसे हमारी सभ्यता की प्रसिद्धि और बढ़ेगी तथा कुछ समय पहले बागपत के सिंगरौली स्थान पर एक रथ पाया गया है तथा इसका समय इतिहासकारों ने २००० ई०पू० बताया है जहाँ यह स्थान उत्तर प्रदेश का पश्चिम का क्षेत्र है, इसी के कुछ किलोमीटर पास आलमगीरपुर स्थान है जहाँ पूर्व का अन्तिम स्थान था जो हड़प्पा के अवशेष पाये गये तथा जैसे-जैसे हड़प्पा सभ्यता की खुदायी में काफी मात्रा में टेराकोटा की वस्तुएँ मिली हैं। मार्शल महोदय ने कहा कि- हड़प्पा सभ्यता के लोगों की आस्था कई कला-कृतियों के माध्यम से प्रतीत होती है। जिससे यह प्रतीत होता है कि ये लोग मातृदेवी के प्रति आस्था, कई कलाकृतियों के माध्यम से प्रतीत होती है। जिससे यह प्रतीत होता है कि ये लोग मातृदेवी के प्रति आस्था थी तथा एक इतिहासकार केदारनाथ शास्त्री ने पीपल वृक्ष में स्थापित देवता को ही प्राकृतिक देवता बताया जो हड़प्पा सभ्यता के लोगों की उनमें आस्था प्रतीत होती है। विभिन्न पुरास्थलों से भिन्न-भिन्न रूपों में नारी मृण्मूतियाँ में नारी शिरोभरण युक्त अथवा छत्रकयुक्त टेराकोटा की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई, जिसमें धुएँ के चिन्ह भी दिखाई पड़ते हैं। एक इतिहासकार वेंकटेश प्रसाद ने दक्षिण भारत की ''दीप लक्ष्मी'' से इसकी तुलना की। मैके का मानना है कि- देवी को प्रसन्न करने के लिए आज

की भाँति धूप लक्ष्मी का प्रयोग किया जाता हो- इस सम्बन्ध में मेरा मानना है कि इसका प्रयोग उनकी आस्था से जुड़ी हो, मोहनजोदड़ों से एक टेराकोटा की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं, जिसके सिर पर एक पंक्षी पंख फैलाए उठ बैठा है, हालाँकि मातृदेवी की सबसे पुरानी मूर्ति हड्डी की है, जो बेलनघाटी में प्राप्त हुए। टेराकोटा कला, हड़प्पा ये महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, आस्था के सन्दर्भ में, इसका बहुत उपयोग किया गया है।

हड़प्पा सभ्यता में मुद्रा कला में, कई धार्मिक पक्ष उजागर दिखाई देते हैं, जैसे-विश्व प्रसिद्ध सिक्का जिसकी पद्मासन स्थिति में बैठा एक पुरुष है, जो उस समय के महत्त्वपूर्ण जानवरों से घिरा हुआ था तथा जो एक आस्था का जीता जागता प्राचीन प्रतीक है, कई इतिहासकार इसको पशुपति की मूर्ति कहते हैं और कई विद्वानों ने जैन धर्म से जोड़ा है तथा इसको आदिनाथ की संज्ञा दिया है। जो भी हो, इस मुद्रा में अंकित पुरुष के महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली पुरुष प्रतीत होता है, हड़प्पा के लोगों के लिए आस्था का प्रतीक यह पुरुष लगता है और यह इतिासकार मार्शल ने भी इसको शिव माना है। मुद्रा में अंकित आभूषण शिव के त्रिशूल की भाँति प्रतीत होते हैं। कुछ इतिहासकारों ने इसके धार्मिक पक्ष को नकारा है जिसमें हेमचन्द्र राय चौधरी ने कहा है कि- कि नन्दी जो शिव जी का वाहन था वहाँ उपस्थित नहीं था तो इसको धार्मिक पक्ष में जोड़ना उचित नहीं है। फिर भी इस मुद्रा को हड़प्पा सभ्यता के लोगों का आस्था का संकेत देता है। ऐसे ही हड़प्पा से दो तरह की मुद्राएँ मिली हैं। हड़प्पा से मिली एक मुद्रा में प्रमुख एक पुरुष आकृति का अंकन है। जिसके साथ पशुओं का चित्रांकन है तथा पेड़ पर बने मचान पर एक पुरुष की आकृति है मुद्रा की दूसरी और एक बैल की आकृति है। जिसके ठीक सामने त्रिशूल गड़ा हुआ है। भले ही हमें शिव की पूजा का साहित्यिक स्रोत न मिला हो, लेकिन फिर भी कला-कृतियों के साक्ष्य मिलते हैं। सिन्धु सभ्यता के वासी शिव की पूजा के साथ लिंग पूजा भी किया करते थे। जिसका प्रचलन वर्तमान समाज में देखा जा सकता है।

मृद्भाण्ड कला-कृतियों में धार्मिकता का मूल्यांकन होता है ऐसे ही लोथल से मिले एक मिट्टी के बर्तनों पर एक पुरुष की आकृति है। जिसके सिर पर सर्प का अंकन है। लोथल से प्राप्त तीन बर्तनों पर सर्प का चित्र बना होता है। मैके ने मृद्भाण्डों पर बने सर्पों के चित्रों का ''नाग देवता'' बताया है।

सिन्धु सभ्यता को बहुत से स्थानों में शवों के साथ सादे-मृद्भाण्ड मिले हैं। जो धार्मिक विश्वास का प्रतीक माना जा सकता है। मृद्भाण्डों में पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों का चित्रण किया गया है, जो प्राकृतिक आस्था का प्रतीक माना जा सकता है।

हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, चन्हुदड़ों और लोथल से ये सैकड़ों की संख्या में मनकों की लड़ियों

की हार बनाते थे। मृण्मूर्तियों पर, नारी आकर्षण का साक्ष्य मिलते हैं। नारियाँ मानको की बनी लड़ियाँ पहनती थी। जो शायद धार्मिकता के प्रतीक के रूप में भी, इसका प्रयोग किया करती हों।

मनकें, मसोपोटामिया में शवाधानों के साथ मिले हैं। पर वहाँ इनकी संख्या अधिक नहीं है। जबकि हड़प्पा सभ्यता में भारी मात्रा उपलब्ध हुए हैं। जो शायद धार्मिक आस्था के साथ इन शवों के साथ रखा गया हो।

हड़प्पा संस्कृति कालीन मूर्तियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि ''नर्तकी'' की मूर्ति है। मोहन जोदड़ों के एच०आर० क्षेत्र से प्राप्त यह मूर्ति १४ सेमी ऊँची है जो दखनों के नीचे खण्डित है। आकृति नग्न है। बायीं भुजा जो कन्धों से लेकर कलाई तक चूड़ियों से भरी है- जिसके एक हाथ में पात्र है, यह पात्र भिक्षा पात्र, देवताओं को चढ़ाने की सामग्री का पात्र अथवा देव मन्दिर में प्रज्ज्वलित करने हेतु दीपक हो सकता है, वह सहज भाव से नृत्य करती प्रतीत होती है। इस रूप में नारी अंगों का सुन्दर रूप गढ़ा हुआ है। हड़प्पा कला में अंकित आदर्श नारी रूप में प्रदर्शित हो, आकृति को सुन्दर रूप से दिखाया गया है। मुखा आकृति विशेष आकर्षक नहीं है, नाक का चपटापन, होठ का भारीपन तथा बायीं भुजा का अनेक चूड़ियों के भार से बोझिल होना भी सौन्दर्य दृष्टि से बाधक माना जा सकता है। एक भुजा को चूड़ियों से भरना किसी धार्मिक परम्परा का सूचक हो सकता है।

समकालीन मेसोपोटामिया के उत्खननों में मन्दिर के अनेक महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं-व्हीलर का कहना है कि- मोहनजोदड़ो का उत्खनन क्षेत्र में दो या तीन ऐसे भवन हैं जो मन्दिर हो सकते हैं। एच०आर० क्षेत्र में एक आयताकार घर है जो छोटा एवं सुदृढ़ और महत्त्वपूर्ण है, इनमें प्रवेश के लिए द्वारा और सीढ़ियाँ हैं इस भवन में दो पत्थर की मूर्तियाँ मिली थी। उन्होंने इस क्षेत्र को पुरोहित का भवन क्षेत्र बताया या पुरोहितों का कॉलेज होने की सम्भावना व्यक्त की है। किन्तु जब तक इन स्थलों के उत्खनन द्वारा नीचे की परतों को नहीं हटाया जायेगा, तब तक इस विषय में ठोस रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। जान मार्शल ने कहा है- सिन्धुघाटी सभ्यता अधिकांश वस्तुएँ लकड़ी की बनायी जाती थी जिसके कारण वर्तमान के अवशेष नष्ट हो गये जिस प्रकार मौर्यकाल के पाटलीपुत्र बना राजप्रसाद भी लकड़ी का बना हुआ था, जो वर्तमान में नष्ट हो गया है। जिसके कारण हड़प्पा सभ्यता की अधिकांश महत्त्वपूर्ण जानकारी हमें प्राप्त नहीं हो पायी। जिसमें धार्मिक पक्ष भी था जो एक महत्त्वपूर्ण भाग था जिसमें हम लोग अंजान रह गये।

हड़प्पा सभ्यता के धार्मिक पक्ष बड़ा है और प्रबल और रहस्यमय है हर इतिहासकार अपनी बात और तर्कों से इसको और भी रहस्यमय बना दिया है। इसका एक मुख्य कारण, हड़प्पा सभ्यता की लिपि है जो अभी तक हम इससे अंजान है। हो सकता है कि आजने वाले

समय में लिपि को पढ़ सके और हड़प्पा सभ्यता के कई नये पक्ष उजागर हों। जो भी हो, लेकिन हड़प्पा सभ्यता के लोगों का जीवन धार्मिकता लिए हुए था। जो इसका विस्तृत रूप वर्तमान में बन गया है। हम यह कह सकते हैं कि जो हड़प्पा सभ्यता में शिव शक्ति, विष्णु, मातृदेवियाँ आदि प्रचलन में थे, वो इसका छोटा रूप हो तथा वर्तमान में इसका विशाल रूप धारण कर लिया हो। जो भी हों, हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त प्रमाणों से तो यही लगता है कि वहाँ के लोगों में आस्था थी। प्राकृतिक देवताओं से ही सही लेकिन कोई अंजान शक्ति को मानते थे। अपने जीवन को और अधिक सुगम बनाने में एक बल के रूप में, स्थापित था। ये लोग जल यातायात करते हों या शुभ कार्य इत्यादि में परम्परागत अंजान शक्ति की अर्चना करते थे। क्योंकि लोथल कालीबंगा से यज्ञ स्थल मिले हैं जो कहीं न कहीं आस्था से जुड़ी थी। हड़प्पा सभ्यता के लोगों के आम जीवन में आस्था घुली हुई थी। जो आज भी कई परतों में छुपा हुआ है। वर्तमान इतिहासकार और पुरात्त्वविद् इसको और उजागर करने का प्रयास कर रहे हैं। आने वाले समय में हम देख पायेंगे कि हड़प्पा सभ्यता में सुदृढ़ एवं मजबूत धार्मिक आस्था थी जो कि शैशवावस्था में स्थापित हो गयी थी। इसका विस्तृत रूप वर्तमान समाज में, दुर्गा, शिव, इन्द्र, आकाश, अग्नि, शिव भक्त (हनुमान) देवताओं के रूप में सामने आया हो।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. सिन्धु सभ्यता- किरण कुमार थपल्याल
२. भारतीय कला एवं पुरातत्त्व- जे०एन० पाण्डेय
३. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास- जय शंकर मिश्रा
४. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास- राधाकृष्ण चौधरी
५. प्राचीन भारत का संस्कृति और पुरातत्त्व- डी०डी० कौशाम्बी

-शोध छात्र
(प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग)
डॉ० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय
फैजाबाद (उ०प्र०)
नेट (इतिहास, जे०आर०एफ०)
(ICHR, Delhi)
Email : viveksumansharma6285@gmail.com
मो०-९७२१७९४५४०

⊙

सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में सौन्दर्यांकन

–डॉ० बसुन्धरा उपाध्याय

यह सर्वविदित है कि सौंदर्य का महत्व हमारे जीवन मे कितना है? भारतीय एवं पाश्चत्य साहित्य में सौंदर्य साहित्य का अभिन्न अंग रहा है।यही कारण है कि आगे चलकर साहित्य में सौंदर्य शास्त्र की रचना हुई। सौंदर्य का सामान्य अर्थ-रमणीय, सुंदर, शोभा, कांति, चमत्कार आदि माना जाता है।पाश्चात्य विद्वान आलोचक सुकरात का मानना है कि जो नेत्र तथा श्रवण के माध्यम से प्रतिकूल हो वह सौंदर्य ही सुंदर है। सौंदर्य केवल शारीरिक सुंदरता ही नहीं बल्कि सौंदर्य चेतना की सत्ता भी है।

प्रकृति में सुंदरता देखने वाले इस कवि ने मानव हृदय के आंतरिक सौंदर्य को देखने का प्रयत्न किया है।कहते हैं कि भोलापन बालमन का सौंदर्य है।सुमित्रानन्दन की कविताओं में यही सौंदर्य देखने को मिलता है।यह सौंदर्य मूलतः वाह्य और आंतरिक दोनों ही आकर्षण के लिये प्रयुक्त होता है। सौंदर्य के विषय मे डॉ. रामचन्द्र शुक्ल जी कहते हैं कि-जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति होगी उतनी ही वस्तु सुंदर कही जाएगी।इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।[1] इस प्रकार रामचन्द्र शुक्ल जी ने सौंदर्य को अंत और वाह्य के भेद के रूप में नहीं माना है।

डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में-पंत जी सौंदर्य के ही कवि हैं। सौंदर्य पंत जी के काव्य की एक महान उपलब्धि है। डॉ. नगेन्द्र जी का मानना है कि सौंदर्य प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक ही इनकी कविता का असली विषय है।[2] सबसे अधिक सौंदर्य हमें प्रकृति में देखने को मिलता है। प्रकृति में हमें सौंदर्य की अपार निधि देखने को मिलती है। प्रकृति सौंदर्य हमें अधिकांश कवियों की कविताओं में देखने को मिलता है। कवियों में भी कवि सुमित्रानन्दन पंत की कविताओं में प्रकृति का अप्रतिम सौंदर्य देखने को मिलता है। पर्वत प्रदेश के झरनों से प्रभावित होकर कवि कहते हैं कि-

गिरी का गौरव गाकर झर झर,
मद से नस नस उत्तेजित कर,
मोती की लड़ियों से सुंदर, झरते हैं
आग भरे निर्झर[3]

इन पंक्तियों में झरना मोती की लड़ियों की तरह प्रतीत होता है। वास्तव में पंत जी

कविताओं में प्रकृति सौंदर्य को ग्रहण करने की अद्‌भुत क्षमता है। व्योम विपिन में बसंत के समान जब पल्लव पल्लवित हो पुष्पित हो उठता है। तब वायु के प्रवाह में बादल तमाल तरु के काले पत्तों की भांति गिरकर कहते हैं। इस दृश्य का भी पंत जी ने बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है।-

व्योम विपिन में जब बसंत सा,
खिलता नव पल्लव प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत में,
गिर तमाल तम के से पात।[४]

यही नहीं अपने मीन नेत्रों को चारों ओर घुमाती हुई चंचल अंचल के छोर पकड़कर सुंदर रूप भरे पंखों को पसारकर किशोरी परी की भांति थिरकने वाली लघु लहरों का विलास अनन्त सौंदर्य की सृष्टि करता है-

चला मीन दृग चारो ओर,
गृह गह चंचल अंचल छोर,
रुचिररूपहरे पंख पसार,
अरि वारि की परि किशोर[५]

प्रकृति सौंदर्य के अतिरिक्त पंत जी ने नारी के शारीरिक सौंदर्य का अत्यंत सुंदर वर्णन किया है।ग्रन्थि की नायिका के कपोलों का सौंदर्य अनूठा है।लज्जा की मादक सुरा के समान,नव गुलाब के समान,लालिमा का नायिका के कपोलों पर छा जाना और उसके मंद हास की मुद्रा में कपोलों के गड्ढो से सौंदर्य की बाढ़ झलकाकर अरूप रश्मियों को अपने मे विकीर्ण करने वाली सीप की भांति प्रतीत होना स्वयं में बहुत रमणीय है-

लाज को मादक सुरा सी लालिमा,
फैल गालों में नवीन गुलाब से,
झलकती थी बाढ़ सी सौंदर्य की,
अध खुले शस्मित गढ़ों से सीप से।[६]

कवि अपनी होने वाली पत्नी का सौंदर्य भी कम नहीं है वह अपनी कल्पना से भावी पत्नी का सौंदर्याकन करने में भी सफल होता है।वह कहता है कि सौंदर्य प्रकृति वसनों से लिपटकर और भी नैसर्गिक और प्रभावोत्पादक हो जाता है और वह कह उठता है कि-

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा स्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याण,
त्रिवेणी को लहरों का गान। [७]

कवि का शारीरिक सौंदर्य के साथ मानसिक सौंदर्य की ओर भी रुझान हुआ है।वीणा की बालिका के भोली उद्‌गारों में स्वयं कवि की मानसिक सौंदर्य का आभास मिलता है। उच्छवास में कवि का यह कहना है कि वह सरला उस गिरी को कहती थी बादल घर भोली बालिका के मानसिक सौंदर्य को ही विदित करता है। कवि अपनी कविता के माध्यम से प्रकृति की सुंदरता का वर्णन करते करते उसमें लीन हो जाता है। वैसे भी पंत जी की सौंदर्य भावना भावों के स्तर पर न होकर अभिव्यंजना स्तर पर भी परिलक्षित है। नौकाविहार कविता में पंत द्वारा चांदनी चर्चित लहरों का पूरे व्यौरे के साथ चित्रण करना एक अलग सौंदर्य की अभिव्यंजना करती है-

साड़ी की सिकुड़न थी जिसपर,
शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर,
फैले फूले जल में फेनिल।[८]

उक्त पंक्तियों में लहरों को साड़ी के सिकुड़न के रूप में देखना अपने आप मे विलक्षण सौंदर्य का परिचायक है। पंत की सौंदर्य भावना उन्हें छंद के स्तर पर सर्वथा नवीन प्रयोग तथा नवीन अलंकार के सृजन की प्रेरणा देती है। ग्रन्थि कविता में राधिका छंद का अत्यंत अलंकृ त ढंग ढंग से प्रयोग किया गया है। हिंदी कविता में उसका प्रयोग उससे पूर्व दुर्लभ है-

इंदु पर उसी इन्द्रमुख पर साथ ही,
थे पड़े मेरे नयन जो हृदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे-पूर्व को,
पूर्व था पर वह द्वितीय अपूर्व था।[९]

सभी जानते है कि पंत जी सौंदर्य के उपासक थे। यही सौंदर्य उनके काव्य की उपलब्धि रही है। इन्होंने स्वयं लिखा है कि-'मेरा भाव प्रवण बचपन से ही सौंदर्य के प्रेरणाप्रद स्पर्शों के प्रति संवेदनशील रहा है। वह सौंदर्य चाहे नैसर्गिक हो सामाजिक, मानसिक हो आध्यात्मिक।[१०]

पंत जी ने सौंदर्य चेतना की अत्यधिक महत्व दिया है।पंत जी के अनुसार कवि अथवा कलाकार सर्वप्रथम सौंदर्य का सृष्टा है क्योंकि उसे जगत और जीवन की कुरूपता को सौंदर्य में परिवर्तित करना पड़ता है। इसी मान्यता को अभिव्यक्त करते हुए पंत ने कहा है किष्-कलाकार के पास ह्रदय का यौवन चाहिए जिसे धरती पर उड़ेलकर उस जीवन की कुरूपता को सुंदर बनाना है।[११] पंत जी ने सौंदर्य को आत्मनिष्ठ माना है तथा आत्मनिष्ठ सौंदर्य के ही प्रक्षेपण को सौंदर्य सृजन कहा है। एक कविता में पंत जी कहते हैं कि-

चित्रनि इस सुख का स्रोत कहाँ जो करता निज सौंदर्य सृजन,

वह स्वर्ग छिपाकर उर के भीतर क्या कहती यही सुमन चेतन। [१२]

-पंत युगांत तितली शीर्षक कविता पृष्ठ-५०

पंत जी कहते हैं कि संसार के वास्तविक सौंदर्य का दर्शन वही कवि कर सकता है जिसके मानस सौंदर्य एवं प्रेम अजस्र स्रोतस्वनि प्रवाहमान है।कवि के अंतरतम में ऐसी स्रोतस्वनि फूट पड़ी है और वह कहते हैं कि-

सुंदरता का आलोक स्रोत है फूट पड़ा मेरे मन मे,
जिससे नवजीवन का प्रभात होगा फिर जग के आंगन में। [१२]

इस संसार और जीवन में सर्वत्र सौंदर्य की प्रभुता देखकर कवि सौंदर्य की समस्त श्री और ऐश्वर्य का केंद्र मानता है-

अकेली सुंदरता कल्याणि सकल ऐश्वर्य की सन्धान। [१३]

सौंदर्य सम्बधी आदर्श कठोर वाह्य जगत में भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए कवि सौंदर्य का चरम आदर्श अपनी मानसिक सृष्टि में ही पाना चाहता है-

में सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित,
भीतर सौंदर्य, स्नेह,
उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग में बाहर। [१४]

सुमित्रानन्दन पंत के अनुसार सौंदर्य का सर्वोपरि गुण उसकी सूक्ष्मता अथवा उसकी अन्तरमूल्यता है।इसी गुण के कारण कवि सौंदर्य की प्रज्ञा अथवा शुध्दबुध्दि का प्रकाश समझता है-

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, ह्रदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप, लोकसेवा में शिव अविकार। [१५]

पंत जी मानना है कि सौंदर्य की सत्ता प्रेम से ही सार्थक होती है।दोनों का बहुत गहरा सम्बंध है-तुम्हारी छवि में प्रेम अपार, प्रेम में छवि अभिराम।[१६]

प्रेम और सौंदर्य का वही सम्बन्ध है जो देह और छाया का होता है।प्रेम यदि देह है तो सौंदर्य उसकी छाया-

यह सौंदर्य चेतना उसके अमर प्रेम की छाया,
दिव्य प्रेम देही सुंदरता उसकी सतरंग काया। [१७]

पंत जी ने सौंदर्य के चार रूप निरूपित किये हैं।नैसर्गिक सौंदर्य, सामाजिक सौंदर्य,मानसिक सौंदर्य और आध्यात्मिक सौंदर्य[१८] पंत जी प्राकृतिक सौंदर्य केचितेरे हैं। प्रकृति के सहचर्य ने ही उन्हें सौंदर्य और स्वप्न जीवी बनाया। उनके वीणा में प्राकृतिक सौंदर्य की प्रधानता देखी जा सकती है। इस विषय मे पंत जी का कहना है कि-वीणा और पल्लव विशेषतः मेरे और प्राकृतिक साहचर्य की रचनाएं हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके

व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था।वह मेरी सौंदर्य लिप्सा की पूर्ति करती थी। जिसके सिवा उस समय मुझे कोई वस्तु पसंद न थी।[१६] सौंदर्य का निरूपण करना पंत जी को बहुत प्रिय था। सामाजिक सौंदर्य के प्रति कवि का आग्रह दिखाई देता है-

सुंदर शिव सत्य
कला के कल्पत बाण-मान, बन गए स्थूल,
जगजीवन से हो एक प्राण, मानव स्वभाव ही,
बन मानव आदर्श सुकर,
करता अपूर्व को पूर्ण, असुंदर को सुंदर।[२०]

मानसिक सौंदर्य का वर्णन करते हुए पंत जी लिखते हैं कि-

ज्यों झरते सिंगार झर झर,
ज्यों हिम फुआर,
कण फहर फहर,
मेरे मानस में सुंदरता।[२१]

छायावादी कवियों ने सौंदर्य और प्रेम का परिमार्जन कर उसे एक उत्तम धरातल पर प्रस्तुत किया है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि इन दोनों युगों के काव्य ने सौंदर्य व प्रेम के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्ती युगों के काव्य से कहीं अधिक महत्वपूर्ण नवीन और अनुपेक्षणीय कार्य किया है। इस काल की सौंदर्य साधना आदर्श थी। पंत जी ने सौंदर्य के सर्वश्रेष्ठ स्वरूप को प्रस्तुत किया है।वैसे भी सत्य ही सौंदर्य है और सौंदर्य ही सत्य है। हिंदी के छायावादी कवियों के काव्य में प्रेम और सौंदर्य का निरूपण साहित्य जगत के लिये बहुत बड़ी देन है। इसे कोई सहृदय स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। पंत जी ने सौंदर्य को एक उत्तम धरातल पर प्रस्तुत किया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि छायावादी कवि ने काव्य के सौंदर्य को अपने पूर्ववर्ती कवियों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण माना है।

सुमित्रानन्दन पंत एक ऐसे कवि हैं जिन्हें समय समय पर अनेक विचार धाराओं ने प्रभावित किया है।इन प्रभावों के फलस्वरूप उनके काव्य में भावों तथा विचारों की जितनी व्यवस्था दिखाई देती है वैसी अन्य कहीं नहीं मिलती। पंत जी का काव्य संसार अत्यंत विस्तृत और भव्य है। उनकी कविता में नवीन विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा है। रविन्द्र नाथ ठाकुर, कार्लमार्क्स, महात्मा गांधी तथा महर्षि अरविंद से वह बहुत प्रभावित थे। इन विचारों से प्रभावित होकर वह काव्य सृजन करते रहे। यही कारण है कि उनकी सृजन शक्ति में समय के साथ और अभिक निखार आया। सुमित्रानन्दन पंत ने समष्टि के प्रसार के लिए अपनी रचनाओं में सत्य एवं सुंदरतम के सामंजस्य द्वारा जो उदात्त विचार प्रस्तुत किये हैं वह युग युगों तक साहित्यकारों को प्रेरणा देते रहेंगे।

सौंदर्य का महत्व हमारे लिए कितना है वह सर्वविदित है। भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य में साहित्य का सौंदर्य अभिन्न अंग रहा है।यही कारण है कि साहित्य में सौंदर्य शास्त्र की रचना हुई है। सौंदर्य का सामान्य अर्थ-रमणीय, सुंदर, शोभा, कांति, चमत्कार आदि माना जाता है। पाश्चत्य विद्वान आलोचक सुकरात के अनुसार जो नेत्र व श्रवण के माध्यम से प्रतिकर हो वह सौंदर्य ही सुंदर है। सौंदर्य केवल शारीरिक सौंदर्य का ही नही बल्कि चेतना की सत्ता भी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. चिंतामणि भाग : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ-१०२
२. सुमित्रानन्दन पंत, डॉ नगेन्द्र, पृष्ठ-१७
३. सुमित्रानन्दन पंत, पल्लव, पृष्ठ-५६
४. सुमित्रानन्दन पंत, पल्लव, पृष्ठ-२५
५. सुमित्रानन्दन पंत, पृष्ठ-७३-७४
६. -सुमित्रानन्दन, ग्रन्थि, रचनावली, पृष्ठ-१२५
७. सुमित्रानन्दन, नगेन्द्र, पृष्ठ-२०
८. नामवरसिंह, छायावाद, पृष्ठ-१०१
९. सुमित्रानन्दन पंत, रश्मिबन्धग्रन्थि, पृष्ठ-२९
१०. सुमित्रानन्दन, चिंदम्बरा (भूमिका), पृष्ठ-१९
११. पंत गद्य पद्य, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृष्ठ-२०४
१२. पंत, युगांत, पृष्ठ-२७
१३. पंत, पल्लव, पृष्ठ-११८
१४. पंत, युगांत, पृष्ठ-२८
१५. पन्त, पल्लव, पृष्ठ-१५८
१६. पंत, गुंजन, पृष्ठ-५७
१७. पंत, स्वर्णकिरण, पृष्ठ-३३
१८. पंत, चिंदम्बरा (भूमिका) राजकमल, प्रकाशन, १९५९, पृष्ठ-१९
१९. पंत, आधुनिक कवि (पर्यलोचन), पृष्ठ-३
२०. पंत, युगवाणी, पृष्ठ-१५
२१. पंत, चिंदम्बरा, राजकमल दिल्ली, १९५९, पृष्ठ ६२

सहायक प्राध्यापक
एस०बी०एस० राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, रुद्रपुर

⊙

राही मासूम रज़ा की रचनाओं में समन्वय और मानवीय संवेदना

–डॉ० ममता खांडल

हर तरफ अँधेरा है रोशनी नहीं मिलती
दूर-दूर ढूंढे से जिंदगी नहीं मिलती

(राही मासूम रजा)

समन्वय वह महत्वपूर्ण तत्व है जिससे प्रबन्ध प्रक्रिया का निर्माण होता है। यह नियोजन की अवस्था में ही प्रारंभ हो जाता है तथा संगठन, निर्देशन, नियंत्रण आदि सभी कार्यों के साथ चलता है द्य समन्वय सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत प्रयत्नों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए कार्य करता है।

समन्वय भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता है, समय-समय पर इस देश में कितनी ही संस्कृतियों का आगमन और आविर्भाव हुआ, परन्तु वे घुल- मिल कर एक हो गई। सांस्कृतिक समन्वय का यह रूप भारत की सभी भाषाओँ के साहित्य में परिलक्षित होता है, वस्तुतः हिंदी साहित्य को संस्कृतिक समन्वय का भाव विरासत में मिला है। समन्वय की यह प्रक्रिया, विरोधी विचारों को आत्मसात करने की सामासिक प्रक्रिया आज भी जारी है।

संवेदना यद्यपि मनोविज्ञान का शब्द है, लेकिन घटना या परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य से प्राप्त अनुभूति की अभिव्यक्ति को ही संवेदना कहा जाता है। साहित्य में इसका अर्थ करुणा, दया एवं सहानुभूति से लिया जाता है। पीड़ित, संत्रस्त, शोषित मनुष्य जब किसी को अपनी गाथा-गाते व कहते सुनता है तो उसका हृदय भाव-विह्वल हो उठता है। हिंदी साहित्य कोश भाग-१ में 'संवेदना का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में किया गया है अर्थात् वेदना या संवेदना का अर्थ ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव है।'[१] मानव मन में किसी भी घटना, वस्तु या पदार्थ को देख कर उठने वाले भाव ही संवेदना कहलाते हैं।

किसी समाज की संस्कृति का अनुमान वहाँ की संवेदनाओं से लगाया जा सकता है। संवेदना के निर्माण में अभिव्यक्ति को दो रूपों में लिया जा सकता है- एक तो जब विशिष्ट विचार समाज द्वारा स्वीकृति पाकर सामाजिक संवेदना का रूप धारण कर लेता है और साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है। दूसरी ओर जब कोई विचार, भाव या धारणा साहित्य

के माध्यम से समाज में प्रवेश करे और संवेदना की सत्ता को ग्रहण कर ले तब संवेदनाओं को अभिव्यक्ति का आकर मिलता है।

१९वीं शताब्दी में मध्यवर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हो चुका था। इस दौर में राष्ट्रवाद की भावना तेज होने लगी थी और एक ऐसी संस्था या ऐसे मंच की आवश्यकता महसूस हो रही थी, जहाँ सारे भारत के लोग एकत्रित होकर स्वाधीनता के लिए आन्दोलन चला सके। भारतीयों की इसी मानसिकता ने सन १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म दिया।

भारतेंदु युग में मुसलमानों और हिन्दुओं में एकता स्थापित करने के प्रयास भी किये गये और राष्ट्रीयता का स्वर भरने का कार्य किया गया। लेकिन १९०५ ई० में हुए बंगाल विभाजन ने राष्ट्रीय एकता पर कठोर प्रहार किया था तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता को तोड़ने के बीज भी बोये गये थे।

मोहम्मद अली जिन्ना ऐसे राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता थे जो शुरूआती दौर में कांग्रेस के समर्थक थे, लेकिन बाद में 'दो राष्ट्र के सिद्धान्त' को प्रस्तुत कर पाकिस्तान के समर्थक बन गए। उनकी इस अलगाववादी विचारधारा ने भारतीय राजनीति की दिशा ही बदल डाली, जिसका परिणाम भारत विभाजन और पाकिस्तान निर्माण के रूप में हुआ।

२०वीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर में बहुत से मुसलमान मुस्लिम लीग की नीतियों का विरोध कर रहे थे और उनकी निष्ठा कांग्रेस की विचारधारा में विद्यमान थी। 'राही मासूम रजा, शानी और बदिउज्जमां के उपन्यासों के अधिकांश पात्र कांग्रेस में आस्था रखते हैं, और मुस्लिम लीग की अलगाववादी नीतियों का प्रबल विरोध करते हैं। वस्तुतः राही, शानी, बदिउज्जमां आदि अपने उपन्यासों 'आधा गाँव', 'ओस की बूंद', 'काला जल', 'छाको की वापसी' में मुस्लिम लीग के प्रश्न को खारिज करते हुए भारतीय राष्ट्रीयता में अपनी गहरी निष्ठा व्यक्त करते हैं।'[२]

राही मासूम रजा एक ऐसे आधुनिक रचनाकार थे जिनकी रचनाओं का मुख्य विषय राजनीति है। उनके उपन्यासों 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला', 'हिम्मत जौनपुरी', 'ओस की बूंद', 'सीन ७५', 'दिल एक सादा कागज', 'कटरा बी आरजू', 'असंतोष के दिन' में समय की अनुगूँज सुनाई देती है। समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक यथार्थ और उसकी परिवर्तनशील स्थितियों का वितान रचा गया है।

विभाजन की त्रासदी का विषय त्रासदी के अंकन एवं आकलन की दृष्टि से उतना अहम् नहीं जितना कि उस मानसिकता के अध्ययन से है जो साम्प्रदायिकता के मूल में कार्यरत था।

विभाजन भारत में विकसित साम्प्रदायिकता के उत्कर्ष का परिणाम था। 'आधा गाँव' उपन्यास विभाजन की त्रासदी के अंकन के बजाय उस मानसिकता को उकेरने के प्रयत्न के रूप में सामने आता है जो साम्प्रदायिकता के सन्दर्भ में कार्यरत थी।

'आधा गाँव' का तन्नू अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से आए मुस्लिम लीगियों को फटकारते हुए कहता है- 'आप जान का डर पैदा कर रहे हैं। डर की यह फसल हमीं को काटनी पड़ेगी।.....गंगौली मेरा गाँव है। मक्का मेरा शहर नहीं है। यह मेरा घर है और काबा अल्लाह मियां का।.... नफरत और खौफ की बुनियाद पर बनने वाली कोई चीज मुबारक नहीं हो सकती। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी गंगौली यहीं हिंदुस्तान में रहेगा।'[३] इस कथन के बावजूद तन्नू पाकिस्तान क्यों चला जाता है ? आखिर क्यों सन बयालीस के आन्दोलन में गोली खाकर शहीद होने के बावजूद कासिमाबाद के स्मारक पर फुन्नन मियां के बेटे मुमताज का न तो नाम दर्ज किया गया और न ही कांग्रेसी नेता ने अपनी तकरीर में उनका नाम लिया ? मुस्लिम अस्मिता का एक छोर फुन्नन मियां के दर्द और बेचारगी भरे इस बयान से भी जुड़ता है कि 'ए साहब, हिआं एक ठो हमरहू बेटा मारा गया रहा। अइसा जना रहा की कोई आपको ओका नाम ना बताइस। ओका नाम मुन्ताज रहा।'[४] 'आधा गाँव' के फुन्नन मियां का यह दर्द भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन से उपजी राजनीतिक उथल-पुथल को प्रस्तुत करती है।

राही 'आधा गाँव' में स्पष्ट रूप से बताते हैं कि गंगौली के मुसलमानों ने बहकावे में आकर पाकिस्तान समर्थन में वोट दिया था, लेकिन वे अपने अंतर्मन से पाकिस्तान निर्माण और पाकिस्तान पलायन दोनों के खिलाफ थे। फुन्नन मियां, मिगदाद, हकीम साहब, अब्बू मियां, तन्नू, कम्मो आदि ऐसे पात्र हैं जो पाकिस्तान बनाने का घोर विरोध करते हैं। वे गंगौली के प्रति अपार निष्ठा के कारण बेहद बेबाकी से मुस्लिम लीगियों के पाकिस्तान के प्रश्न को बड़ी गंभीरता और ईमानदारी से खारिज कर देते हैं- 'कहीं इस्लामू है कि हुकूमते बन जैयहे। ऐ भाई, बाप दादा की कबुर हियां है, चौक इमाम बाड़ा हियां है। हम दोनों बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिंदाबाद में फंस जाएं।'[५] और पाकिस्तान बनने के बाद भी भारतीय मुसलमानों की समस्यायों का अंत नहीं होता है बल्कि नई समस्याएं पैदा हो जाती हैं। पाकिस्तान निर्माण और स्वतंत्र भारत में शुरू हुई नई राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप अधिकांश मुसलमान जो जमींदार थे, उनकी जीविका का एकमात्र आधार जमींदारी चली गई तो आर्थिक बोझ के साझीदार कई परिवारों के सदस्य भी पाकिस्तान चले गए जिससे कई परिवार दरिद्रता की स्थिति में पहुँच गए। 'आधा गाँव' के हकीम साहब के अनुसार- 'एक ठो बेटा रहा...' पाकिस्तान चला गया। एक ठो जमींदारी रही, ऊको समझौ कि पाकिस्तान चली गयी।.... हमारी समझ में तो भई, कुछ आता ना। नौ परानी का पेट कैसे चलाएं?[६] असलियत में

जमींदारी का अवसान और पाकिस्तान पलायन की प्रवृति ने कई मुस्लिम परिवारों को अकेलेपन में धकेल दिया जिससे ये परिवार टूटने के कगार पर पहुँच गए।

उपन्यास 'ओस की बूंद' में भी पाकिस्तान बनने और इसके कारण बिछुड़ने के दर्द की अभिव्यक्ति हुई है। अली बाकर खां, अपने पिता वजीर हसन खां, पत्नी आबेदा और बेटी शहला को हिन्दुस्तान में अकेले छोड़कर बेहतर भविष्य की तलाश में पाकिस्तान चला गया। दूसरी ओर आबेदा पति के वियोग में तड़प रही थी और जो सोचती थी कि यदि पाकिस्तान न बना होता तो उसकी बेटी शहला पिता के जीते जी अनाथ न हो गई होती। वह जिन्ना की तस्वीर को देखते हुए लताड़ती है- 'एहर काहै ना देख रह्यो मरकिनौने। एहर देखो। बड़े कायद हौ त शहला के बाप का रस्तवा कैसे भुलाय दियो। ऐ?'[७] समस्या सिर्फ भारत में रह गए मुसलमानों की ही नहीं थी, बल्कि पाकिस्तान गए मुसलमानों की भी थी, क्योंकि उनको वहां पनाह गुजीन अर्थात् भागकर पनाह लेने वाला समझा जाता था। 'आधा गाँव' का सद्दन एक ऐसा ही पात्र है जो पाकिस्तान चला गया लेकिन उसे वहां शरणार्थी ही समझा जाता रहा, जिसके कारण वह गंगौली के लिए तड़पता और रोता है। 'कटरा बी आर्जू' का अब्दुल हक भी पाकिस्तान जाकर पछताया, वह भी वहां शरणार्थी था और मजदूरी करता था। 'दिल एक सादा कागज' के भाई जानू पाकिस्तान इसलिए गए कि वहां उनकी इज्जत- आबरू सुरक्षित रहेगी। अंततः बंगाली मुसलमानों के अत्याचारों से तंग आकर जानू भाई पुनरू रिफ्यूजी बनकर हिंदुस्तान लौट आए।

राही पाकिस्तान बनाये जाने के पक्ष में नहीं थे। वे विचार व्यक्त करते हैं कि अगर एक ही चीज के दो टुकड़े कर दिये जायें तो क्या उन दोनों टुकड़ों का अलग-अलग उतना महत्व रह जाता है जितना इक्कट्ठे रहते हुए था? उसी प्रकार नाम बदल देने से चीजे नहीं बदला करतीं। राही ने गाजीपुर के माध्यम से वास्तव में भारत विभाजन की दुःखद एवं त्रासद घटना पर भी कटाक्ष किया है-'नाम का व्यक्तित्व से कोई अटूट रिश्ता नहीं होता शायद, क्योंकि यदि ऐसा होता तो गाजीपुर बनकर गादिपुरी को भी बदल जाना चाहिए था.... परन्तु ऐसा नहीं हुआ। सब गाजीपुर हैं और अगर शहर का नाम न बदला होता तो सब गादिपुरी होते ... इसीलिए तो पाकिस्तान बन जाने के बाद भी पाकिस्तान की हकीकत मेरी समझ में नहीं आती।'[८]

विभाजन के बाद मानव मानव-रूप में न रहकर हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, इसाई आदि रूपों में विभक्त हो चुका है। राही के विचार में- 'हर सांप्रदायिक दंगा देश को कमजोर करता है। .....कट्टरवादी देशद्रोही है। चाहे वह गीता सुनाएं, चाहे कुरान और चाहे गुरुग्रंथ साहब। कट्टरवादियों के साथ वही सलूक करना चाहिए जो देशद्रोहियों के साथ किया जाता है- फांसी।'[९]

उपन्यास 'आधा गाँव' में राही गंगौली के माध्यम से वास्तव में भारत में फैली साम्प्रदायिकता की समस्या को चित्रित करते हैं। उपन्यास में गंगा का मानवीकरण करते हुए राही लिखते हैं कि गंगा एक माँ की तरह है जो अपने सभी बच्चों से एक-सा प्यार करती है। वह नहीं जानती कि कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान? गंगा उसमें भेदभाव नहीं करती, लेकिन गंगा के ये बच्चे उसकी भावनाओं को नहीं समझते। राही लिखते हैं कि गंगौली वासी अब गंगौली वालों की अपेक्षा सुन्नी, शीया और हिन्दू आदि कहलाना अधिक पसन्द करते हैं- 'इधर कुछ दिनों से गंगौली वालों की संख्या कम होती जा रही है और सुन्नियों,शीयों और हिन्दुओं की संख्या बढ़ती जा रही है। शायद इसीलिए नूरूद्दीन शहीद की समाधि पर अब उतना बड़ा मजमा नहीं लगता और गंगौली का वातावरण 'बोल मुहम्मदी या हुसैन' की आवाज से उस तरह नहीं गूंजता, जिस तरह कभी गूंज उठा करता था। शायद यही कारण है कि समाधि आज उदास- उदास नजर आती है और अपनी अंधी आँखों से इधर-उधर देखती रहती है और सोचती रहती है- मेरी गंगौली कहाँ गई?'[१०]

राही का मानना था कि हिन्दुस्तान में रहने वाला कोई व्यक्ति चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान सबसे पहले एक हिन्दुस्तानी है बाद में हिन्दू या मुसलमान। मुसलमान भले ही हिंदुस्तान में अल्पसंख्यक समुदाय है फिर भी उनका हिन्दुस्तान में होना ठीक उसी प्रकार मायने रखता है जिस प्रकार दाल में नमक का होना। दाल में नमक भले ही कम मात्रा में हो, दाल खाने का मजा तो तभी है अगर दाल में नमक डला हो, बिना नमक की दाल भला कोई कितने दिन तक खा सकता है?

'स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान मुस्लिम लीग और आर.एस.एस. द्वारा यह दुष्प्रचार किया गया कि हिन्दू- मुस्लिम दो राष्ट्र हैं अंतरू दोनों एक साथ नहीं रह सकते। राही मासूम रजा 'आधा गाँव' में हिन्दू- मुस्लिम संबंधों के द्वारा दो राष्ट्रों की परिकल्पना को खारिज करते हैं और संयुक्त राष्ट्रीयता में आस्था प्रकट करवाते हैं।'[११] मिली-जुली संस्कृति और समन्वय की भावना का सुन्दर दृश्य उनके उपन्यासों में देखे जा सकते हैं।

दोस्ती में प्रगाढ़ता सिर्फ सामाजिक कारणों से ही नहीं आती है बल्कि व्यक्तिगत रूचियां और समस्याएं भी इसका कारण बन जाती है। इस उपन्यास में ठाकुर पृथ्वीपाल सिंह और फुन्नन मियां की दोस्ती एक ऐसे आदर्श को रचती है जिसमें त्याग की भावना प्रमुख है। ऐसी स्थिति में धर्म और संस्कृति के दायरे धूमिल लगने लगते हैं। एक खेत के मामले में हम्माद मियां और पृथ्वीपाल सिंह के झगड़े में फुन्नन मियां द्वारा सय्यदों के विरूद्ध ठाकुरों को समर्थन देने के कारण पट्टीवालों ने उन्हें टाट- बाहर कर दिया। लेकिन उन्हें इसका जरा भी अफसोस नहीं हुआ, क्योंकि उन्होंने तो अपनी दोस्ती को निभाया था। फुन्नन मियां की बेटी रजिये की

मृत्यु के समय विरादरी वालों ने साथ नहीं दिया। ऐसे में पृथ्वीपाल सिंह फुन्नन मियां की कुर्बानी कैसे भूल सकते थे ? अतः जब रजिये का जनाजा निकला तो ताबूत फुन्नन मियां, ठाकुर पृथ्वीपाल सिंह, झिंगुरिया और अनवारुल हसन के कन्धों पर था और ठाकुर कुंवरपाल सिंह का सारा परिवार जनाजे के साथ था। बिरादरी बाहर किये जाने की पीड़ा और दोस्ती की गहराई के ठोस प्रमाण हेतु फुन्नन मियां की पत्नी कुलसुम से उसकी व्यथा को उसके ही जबान में सुनी जा सकती है-'हमारे घर में मौत हो गई त कौनों जने कंधा देव न आयो, रकियाने वाले और कुंवरपाल सिंह ना रहते त लाश न उठती।'[१२] वीरेंद्र यादव अपने लेख 'विभाजन, इस्लामी राष्ट्रवाद और भारतीय मुसलमान' (तद्भव-अप्रैल २००१, अभिनव कदम, नवम्बर २००१, अक्टूबर २००२) में यह निष्कर्ष निकलते हैं कि 'आधा गाँव' में अभिव्यक्त हिन्दू- मुस्लिम सम्बन्ध सामंती व्यवस्था का परिणाम है। एक संकुचित दृष्टि से यह स्थापना ठीक है, लेकिन खुली दृष्टि से देखने पर कुछ ऐसे पहलू भी मिलते हैं जो सिद्ध करते हैं कि समाज में स्वस्थ मित्र भाव सदैव विद्यमान रहा है। वह किसी दबाव में नहीं पनपता। अगर ऐसा होता तो मध्यकाल घोर सामंती काल था, फिर भी ऐसे दौर में कबीर जैसा निरपेक्ष चिन्तक, रहीम जैसा सहृदय, जायसी व अन्य सूफी कवि जो हिन्दुओं के घर की कथा कहते थे, रसखान जैसे कृष्ण भक्त इत्यादि जैसे युगपुरुष बहुलतावाद और मेल-जोल की संस्कृति को अपने चिंतन और अभिव्यक्ति का लक्ष्य बनाते हैं। क्या इन लोगों ने सामंती दबाव में आकर यह सब किया? नहीं यह उनकी आतंरिक चेतना थी, भारतीय संस्कृति की शक्ति थी।

हिन्दू-सिक्ख दंगों में जब हिन्दू बेगुनाह सिक्खों को मारने के लिए सड़कों पर निकल आये थे, राही लिखते हैं- 'असंतोष का एक मौसम खत्म भी नहीं हो पाया था कि असंतोष का एक दूसरा मौसम शुरू हो गया।'[१३] कैसी विडम्बना और कैसा हिंसा का दौर था कि राही लिखने पर मजबूर हो जाते हैं। 'अहिंसावादी हिंदुस्तान का दामन २५०० बरसों से खून से लिथड़ा हुआ है। चिपक रहा है बदन पर लहू से पैरहन।'[१४]

राही अपने निबंध संग्रह- 'लगता है बेकार गए हम' में लिखते हैं- 'धर्म निरपेक्ष भारत को धर्मों ने तोड़ा है। इसीलिए अल्पसंख्यक सम्प्रदाय और बहुसंख्यक सम्प्रदाय के भूत हमारे दिलों में नंगे नाच रहे हैं।'[१५]

बने हुए हैं पनघट पे गागरों के निशां
मगर घरों की वह बातें नजर नहीं आतीं
वह छोटी-छोटी सी खुशियाँ तो वह पहाड़ से गम
घरों से औरतें क्या अब इधर नहीं आतीं।

धर्म के नाम पर होने वाले दंगों के सन्दर्भ में राही इंडियन एक्सप्रेस के सम्पादक अरुण

शौरी को पत्र लिखते हुए अपने भावों को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं- 'आधुनिक भारत का इतिहास बेगुनाह के खून से लिखा जा रहा है कि अरुण शौरी जी खून का कोई धर्म नहीं होता। खून न हिन्दू है न मुसलमान, न सिक्ख, न हरिजन-खून केवल हिन्दुस्तानी है।'[१६] कट्टरपंथियों के विरुद्ध और धर्म के नाम पर दंगे- फसाद को देखते हुए राही का मन आक्रोश से भर उठता था जो इन शब्दों में प्रकट हुआ है-

मेरा नाम मुसलमानों जैसा है
मुझको कत्ल करो
और मेरे घर में आग लगा दो
लेकिन मेरी नस-नस में गंगा का पानी दौड़ रहा है

राही के बारे में कहा जा सकता है-'राही इस उपमहाद्वीप की वह शख्सियत है जिसने साम्प्रदायिकता की अपसंस्कृति को नंगा करना हिन्दुस्तानियों के लिए सहज स्वाभिमान का विषय बनाया।' कुंवरपाल सिंह के शब्दों में कहा जा सकता है- 'राही का पूरा लेखन साम्प्रदायिकता के विरूद्ध एक सतत संघर्ष है।'[१७]

हर एक राह है वीरान, हर मकान उदास
न खांसते हुए बूढ़े, न गुनगुनाते जवां
न मंदिर में पुजारी, न दीप और न राम
न मस्जिदों में नमाजी है अ शोरे- अजां

हरियश राय के अनुसार- 'राही के कथा- साहित्य के पात्र साम्प्रदायिकता की आग से लगातार जूझते हैं और सवालों के अम्बार हमारे सामने खड़े करते हैं, पहले से ज्यादा जटिल और घातक बनकर और इन्हीं सवालों के कारण टोपी को कहीं नौकरी नहीं मिली, इफ्फन का प्रमोशन नहीं हुआ, जिसका जवाब सकीना के वालिद को नहीं मिला और जिसके कारण राही को निराश और हताश होकर कहना पड़ा-

बावन साल पुरानी आँखें कब तक जागे ?
देखे- अनदेखे सपनों से भागे,
कब तक भागे ?
हर लम्हा एक रेत का जर्रा

राही के अनुसार धर्म राष्ट्र का पर्याय नहीं होता। 'राष्ट्र और धर्म को एक समझाना इतिहास विरोधी है।' राही भारतीय संस्कृति को विश्व की सबसे सुन्दर संस्कृति मानते हैं। वे लिखते हैं संस्कृति वह है जो मानवता का पाठ पढ़ाती है, जो लोगों में भाईचारे की भावना पैदा करती है और जो राष्ट्रीय एकता में सहायक होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. हिंदी साहित्य कोश. भाग -१, पृ. ८६३
२. नामदेव- भारतीय मुसलमान हिंदी उपन्यासों के आईने में, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.लि.) नई दिल्ली २००९ पृ.६६
३. राही मासूम रजा, आधा गाँव,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४ पृ. २५५-२५६
४. वही, पृ. ३००
५. वही, पृ.१५५
६. वही, पृ. ३३३
७. राही मासूम रजा, ओस की बूंद, पृ. ३५
८. राही मासूम रजा, आधा गाँव,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४, पृ. १२
९. राही मासूम रजा, लगता है बेकार गए हम , संपा एवं संक, कुवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली १९९९, पृ. १०२
१०. राही मासूम रजा, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४. पृ. १३
११. नामदेव- भारतीय मुसलमान हिंदी उपन्यासों के आईने में, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.लि.) नई दिल्ली २००९ पृ. ८९
१२. राही मासूम रजा, आधा गाँव,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४, पृ. १७५
१३. राही मासूम रजा, टोपी शुक्ला, पृ. ८१
१४. राही मासूम रजा, असंतोष के दिन, पृ. ८९
१५. वही, पृ. ९०
१६. राही मासूम रजा, लगता है बेकार गए हम, संपा एवं संक, कुवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९९
१७. वही, पृ० ९९
१८. कुवरपाल सिंह (संपा.) राही और उनका रचना संसार, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली २००४, (भूमिका से)

-हिंदी विभाग,
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
बांदरसिंदरी,किशनगढ़, अजमेर
राजस्थान-३०५८०१
संपर्क-९४१३१६९४३३
mamtakhandal@curaj-ac-in

आधुनिक कविताई की चुनौतियाँ और अज्ञेय

–डॉ० परम प्रकाश राय

आधुनिक जीवन की कठिनाइयों पर चर्चा करते समय प्रायः आधुनिकता को वर्तमानता, औद्योगिक-यांत्रिक उन्नति, पूँजीवाद आदि अर्थ-छायाओं से समझने की कोशिश होती है- जो एक हद तक सही भी है। जब हम इसमें वैज्ञानिक दृष्टि, ईश्वर की जगह मनुष्य की केन्द्रीयता, लोकतंत्र आदि शब्दों को जोड़ देते हैं, तब वह एक व्यापक अर्थ ध्वनित करने लगता है। तभी, हमारे सामने आधुनिक युग की समस्याएँ भी स्पष्टतर होती जाती हैं। ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक कवि, सर्जक से पहले एक मानव है और उसे उस मनुष्य की सम्पूर्ण समस्याओं से ही प्रथमतः रू-ब-रू होना है, जिस आधुनिक मनुष्य के लिये रॉबर्ट हिनलिन (विज्ञान-कथा रचयिता) का एक पात्र लेजारस लॉन्ग कहता है- 'आधुनिक मनुष्य को न सिर्फ सभी क्षेत्रों (व्यापारों) का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान रखना चाहिए, अपितु उसे उन चीजों का पारंगत विद्वान् भी होना चाहिए...विशेषीकरण तो कृमि-जीवों के लिए है।'[1]

अज्ञेय आधुनिकता को 'नये काल-बोध' के रूप में देखते हैं। वे 'आधुनिकता' शब्द को इस काल-बोध से संबंधित संवेदन-संस्कार के रूप में देखने के हिमायती हैं। इसी आधार पर अज्ञेय आधुनिक युग की साहित्यिक समस्या पर गहरे उतरकर विचार करते हैं। अर्थवान शब्द की समस्या, यथार्थ को उसकी अक्षुण्णता में अभिव्यक्त और संप्रेषित कर पाने की समस्या उनका केंद्रीय चिंतन है। इसी के इर्द-गिर्द वह यथार्थ और काल के आयामों और उससे जुड़कर और भी जटिल हुई समस्या पर विचार करते हैं। साथ ही आधुनिक युग की यांत्रिकता के फलस्वरूप उपजी अति-बौद्धिकता, सूखती जाती मानव संवेदना, साधारण मानव के ऊपर रूढ़ियों का कसता शिकंजा, मूल्यों का ह्रास आदि, यानी ठेठ आधुनिक कालीन मनुष्य : उनकी चिन्तना का केंद्र है।

आज के कवि की अर्थवान शब्द की समस्या पर विचार करते हुए अज्ञेय का कहना है- 'यों समस्याएं अनेक हैं : काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की आदि। किन्तु इन सबका स्थान इससे पीछे है क्योंकि यह (अर्थवान शब्द की समस्या) कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या है। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली शक्ति यही है।'[2] ऐसा इसलिए है क्योंकि

'साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बहकर आते हुए लावा से ही भरकर और जमकर रुद्ध हो गयी हैं, प्राण-संचार का मार्ग उनमें नहीं है।'[३]

आधुनिक कविताई संबंधी जिस उपर्युक्त संकट को अज्ञेय ने अपनी रचनाओं में बारम्बार रेखांकित किया है, मुक्तिबोध का चिन्तन भी कमोबेश उसी संकटको उल्लिखित करता है- 'आज की नयी कविता के प्रगल्भ-विकास के लिए कवि की मूलभूत संवेदन-शक्ति में विलक्षण विश्लेषण-प्रवृत्ति चाहिए। इसलिए कि कविता पुराने काव्य-युगों से कहीं अधिक, बहुत अधिक, अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व स्थिति में प्रस्तुत है। इसलिए उसके भीतर तनाव और घिराव का वातावरण है।[४]

निश्चित रूप से यह घिराव परिस्थिति की पेंचीदगियों का है, जिसमेंआधुनिक युग के तीव्र विकास के साथ सामाजिक रूढ़ियाँ अपने पिछड़ेपन के कारण साधारण मनुष्य पर सघनतर वर्जनाएं लाद रही हैं। केवल मानसिक कुंठाएं ही नहीं, व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समूह और व्यक्ति-समूह, वर्गों और श्रेणियों के संघर्ष से उपजी कुंठाएं भी हैं जो उसकी कवि-कल्पनाओं में उतर रही हैं। उसे वास्तव की वीभत्सता पर चाँदनी खोटी दिखती है-

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार-
शिशिर की राका निशा की शान्ति है निस्सार! [५]

दो विश्व-युद्धों, निरंतर शहरीकरण और मध्यवर्ग का शहरों की ओर पलायन, भारतीय सन्दर्भ में विभाजन तथा निरंतर यंत्रीकरण के प्रभावस्वरूप मानव-मन और भी संकुचित होता गया है। वह 'चारण की तरह गान गाकर निरापद सो नहीं सकता', किन्तु अभिव्यंजन की समस्या से भी मुक्त नहीं हो पाता-

'किन्तु अव-निस्तब्ध-संस्कृत
लोचनों का भाव-संकुल, व्यंजना का भीरु
फटा-सा अश्लील-सा विस्फार'[६]

और निरंतर उसकी कुंठा और अश्लीलता बढ़ती जाती है-

'वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी
औ' समर्पित'[७]

प्राचीन वाचिक परम्परा से भिन्न छपाई के आधुनिक युग में यथार्थ के सम्प्रेषण की समस्या बहुत गहरी हो गयी है। एक तो 'काल के ऐतिहासिक अनुक्रम' के अलावा हम प्राचीन

स्थितिशील समाज के शाश्वत नैतिक मूल्यों को जो समानांतर काल के अन्य स्थितिशील आयाम में स्थापित की जाती थीं- स्वीकार नहीं कर पाते। दूसरे कवि (वाचक) और पाठक (श्रोता) का व्यक्तित्व अमूर्त हो गया है और देश, काल, राग की दूरी का अनुमान न होने से सम्प्रेषण की समस्या बढ़ गयी है। इसीलिए रचना में व्यक्तित्व की पहचान पर बल दिया जाने लगता है।[८]

नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं- 'कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में है, व्यक्तिहीनता में नहीं।'[९] परन्तु 'मासकल्चर' के इस युग में : सहृदय सामाजिक के स्थान पर जहाँ पाठक 'ऑडियंस' हो गया है : व्यक्तित्व, जोनैतिक, मानवीय मूल्य (अपने आत्म-सत्य को पाने के संघर्ष में अर्जित) स्थापित कर सकता था, उस पर ध्यान न होकर मनोरंजन पर ध्यान है।[१०]

मुनाफा आधारित वर्तमान सभ्यता मानव को यंत्रवत व्यवहार कराती है और वह निरंतर स्वस्थ रहे इसके लिए विश्राम के क्षणों में एक मांग पैदा करती है। फलस्वरूप, शाब्दिक और मानसिक सस्तापन, विज्ञापनबाजी तथा साहित्य, संस्कृति और संवेदनाधारित जीवन का क्षरण। इसीलिए अज्ञेय परम्परा और आधुनिकता के आत्यंतिक सूत्र तलाशते हैं। वे प्रकृति- सुषमा को निहारते हैं, परन्तु एक बौद्धिक सचेतनता के साथ उसके आस-पास हो रहे विनाश और उसके साथ क्षरित होते मानव-संबंधों की पड़ताल करते हैं। 'हरी घासपर क्षणभर', 'नंदा-देवी' और 'कितनी नावों में कितनी बार' जैसी तमाम कविताएं हों या 'त्रिशंकु', 'आलवाल' आदि संग्रहों में संकलित निबंध : सब ओर यह चिंता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

आधुनिकता की इन तमाम भयावह परिस्थितियों से घिरा मनुष्य निरंतर अपने में संकुचित और खत्म होता जाता है। अज्ञेय 'आत्म-विस्तार', 'आत्म-बोध' और 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' के माध्यम से मनुष्य को उसकी अद्वितीयता में बचाना चाहते हैं, जो समाज को स्वस्थ बनाये रखने में योग दे सके। यह भाव अज्ञेय की कविताओं में तो व्यक्त हुआ ही है, उनके उपन्यासों, कहानियों, निबन्धों आदि में भी प्रभूत मात्रा में इसकी अभिव्यक्ति मिलती है। उनका निजी जीवन भी इसी चिन्तन के इर्द-गिर्द विस्तार पाता प्रतीत होता है, जिसे हम उनके अनेक साक्षात्कारों और उनकी डायरियों में स्पष्ट देख सकते हैं।

आज का कविराष्ट्रीय भावनाओं, असीम के प्रति अपने गहरे लगाव से प्राप्त विश्वासों से अलग छिटक गया है और यही उसके यथार्थवादी होने की पहचान है। किन्तु वह इस भयानक यथार्थ का सामना कैसे करे और वर्तमान बौद्धिक-चेतनता के युग में वह राज्य-कवि रहे, जन-कवि रहे या दोनों का कर्त्तव्य निभाये? क्या इस तनाव और घिराव के वातावरण में उसकी

क्षमता इतनी है कि वह इन सबका भारवहन कर सके? या कि कवि से, साहित्यकार से इतनी अपेक्षा करना ज्यादती है?

अज्ञेय ने अपने निबंधों में इन प्रश्नों पर गहन चिंतन किया है। वे टी.एस. एलियट जैसे आधुनिक अंग्रेजी कवियों से प्रभावित थे तो वेदान्त, औपनिषदिक और बौद्ध दर्शन से भी। उनका मानना है कि कवि अपनी आतंरिक विवशता से प्रेरित हो लिखता है, समाज उस पर कोई दबाव नहीं बना सकता। आज जबकि कविता करना एक व्यर्थ अथवा विलास जैसी वस्तुमानी जाने लगी है, ऐसे में अज्ञेय का यह गहन चिन्तन कि कवि 'व्यापक-सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' के बीच किसी भी स्तर पर वह हो सकता है, क्योंकि सभी की क्षमता बराबर नहीं है, समाज और व्यक्ति के अन्तःसम्बन्धों की ठीक से पड़ताल करता है। इसीलिए वे दृढ़तापूर्वक यह स्थापित करते हैं कि कवि अपने अनुभूत सत्य से उपजी कला-वस्तु का समाज को प्रतिदान कर उसका सुख पा सके, यही उसका अभीष्ट है।[१] इससे संबंधित कवि की बेचैन रचना-प्रक्रिया, शब्द की खोज आदि का सुन्दर अभिव्यंजन उनकी कई कविताओं में हुआ है, जैसे- 'आज तुम शब्द न दो', 'सर्जना के क्षण', 'सोन-मछली', 'नाच', 'शब्द और सत्य' आदि।

परम्परा की जीवन्तता को आत्मसात कर उसे आधुनिक समय में भी अपने रस से सिंचित करने और उससे भी रस लेते रहने में ही आधुनिक कवि के अनास्था के संकट, संक्रांतिकालीन सृजनसम्बन्धी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता तथा अन्यान्य विरोधाभासों का समाधान मिल सकता है, जो अज्ञेय की इन काव्य-पंक्तियों में संकल्प-रूप में अभिव्यक्त हुआ है-

आज तुम शब्द न दो, न दो, कल भी मैं कहूँगा ।
तुम पर्वत हो अभ्रभेदी शिलाखंडों के गरिष्ठ पुंज
चाँपे इस निर्झर कोर हो, रहो।
तुम्हारे रंध्र-रंध्र से तुम्हीं को रस देता हुआ फूटकर मैं बहूँगा ।
आज नहीं, कल सही
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाए यह आग मैं रहूँगा?
आज तुम शब्द न दो, न दो कल भी मैं कहूँगा।[२]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. हीनलिन, रॉबर्ट ए., टाइम एनफ फॉर लव, एस बुक्स (पेपरबैक संस्करण), १९८८, पृष्ठ सं. २४८
२. अज्ञेय, तारसप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नौवां संस्करण, २००९, पृष्ठ सं. २२२
३. वही

४. मुक्तिबोध, गजानन माधव, नयी कविता का आत्म-संघर्ष, विश्व भारती प्रकाशन, नागपुर, द्वितीय संस्करण, १९७७, पृष्ठ सं. २
५. अज्ञेय, तारसप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नौवां संस्करण, २००९, पृष्ठ सं. २२८
६. वही, पृष्ठ सं. २२९
७. वही, पृष्ठ सं. २२७
८. अज्ञेय, लेखक का दायित्व, वाग्देवी प्रकाशन, प्रथमसंस्करण, २००२, पृष्ठ सं. ९७
९. नेमिचंद्र, तारसप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नौवां संस्करण, २००९, पृष्ठ सं. ५७
१०. अज्ञेय, लेखक का दायित्व, वाग्देवी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, २००२, पृष्ठ सं. १७१
११. अज्ञेय, त्रिशंकु, सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर, १९७३, पृष्ठ सं. ७३
१२. अज्ञेय, बावरा अहेरी, भारतीय ज्ञानपीठ, छठा संस्करण, २००३, पृष्ठ सं. ११

-स. प्रोफेसर, हिन्दीविभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
संपर्क :raiparamprakash@gmail-com

केदारनाथ अग्रवाल : काव्य में उभरता लोक-मानस

–अजीत कुमार पुरी

साहित्य की अपनी अखण्ड परम्परा होती है। उसी में समय-समय पर कोई विचार महत्व प्राप्त कर लेता तो दूसरा कुछ समय के लिए दब जाता है। उसके भीतर की प्राणशक्ति विचारों का मूल समाज की आदिम चेतना से संपृक्त होती है। इसमें युग की परिस्थितियों से जो वातावरण बनता है उसका भी अपना प्रभाव पड़ता है। 'प्रगतिवाद' की चेतना हिन्दी साहित्य की परम्परा का अपना स्वाभाविक विकास नहीं है, इसके मूल में मार्क्सवादी चिंतन है, किंतु भारतीय समाज की व्यापक और विस्तृत साहित्यिक परंपरा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। 'प्रगतिवाद'से प्रभावित साहित्य छायावाद के बाद का व्यापक सामाजिक चेतना वाला साहित्य है, जिसमें मार्क्सीय सामाजिक यथार्थवाद को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। केदारनाथ अग्रवाल हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा के प्रतिनिधिकवि हैं। उनकी कविता व्यापक अर्थों में जीवन धर्मी कविता है। सामान्य जन-जीवन के दुःख-सुख, आशा-निराशा, रास-रंग, धूप-छाँव सपने-सच्चाई, शोषण और संघर्ष उनकी कविता के आधार हैं।" केदारनाथ अग्रवाल का नाम प्रगतिवादी काव्यान्दोलन के साथ जोड़ा जाता है। निश्चय ही केदार की चेतना जनवादी है। वे अपनी कविता में सामान्य जन का पक्ष लेते हैं। उसके दुख-दर्द का बयान करते हैं। मेहनतकश जनता के विविध चित्र उनकी कविताओं में प्राप्त होते हैं। किसान युवक-युवतियों और मेहनतकश मजूरों के देह-चित्र बार-बार उभरते हैं। केदार अपने परिवेश से कभी अलग नहीं होते। बुन्देलखण्ड का प्रदेश, केन का सौंदर्य बराबर विद्यमान रहता है उनमें। उनकी कविता एक विशिष्ट भारतीय जमीन की कविता है। उसमें अपनी धरती का रंग सबसे गाढ़ा है।" (डॉ. चंद्र त्रिखा-प्रतिनिधि आधुनिक कवि, पृ.१५८)

कवि जिस विषय या वस्तु को केन्द्र में रखकर काव्य सृजन करता है। वह काव्य का भाव पक्ष कहलाता है। इस आधार पर प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं की विशेषता उद्घाटित किया जायेगा। केदार आम जन के सुख-दुख को समझकर उससे संवेदना रखने वाले कवि थे। शोषित-उत्पीड़ित वर्गों के प्रति अशेष ममता और सहानुभूति प्रगतिशील काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता है। केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में भी इसका पूरा निर्वाह

हुआ है। कवि का मानना है कि संसार में आज जो विकास का कार्य हो रहा है। उसमें श्रमिकों का भी योगदान है। उनके श्रमपर ही ऊँचे-ऊँचे महल खड़े किये जा रहे है। 'कानपुर' नामक रचना में कवि ने इसी भाव को अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूप में व्यक्त किया है-

"कानपुर की सारी सत्ता-
श्रमजीवी की ही सत्ता है
कानपुर की सारी माया
श्रमजीवी की ही माया है" (फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.७२)

केदार का जन्म एक साधारण कृषक परिवार में हुआ था। कवि कभी कृषि कर्म में प्रवृत्त नहीं हुआ पर, फिर भी उसकी ग्रामीण वातावरण के प्रति सहानुभूति को इन शब्दों में देखा जा सकता है-

"उसी पुरातन चक्की का, कर्कश मोटा स्वर,
अन्धकार के आर्तनाद-सा, सुन पड़ता है।
गाय, बैल, भेड़ों, बकरी, पशुओं के दल में,
मूर्ख मनुष्यों का समाज खोया रहता है"
सड़े घूर की, गोबर की बदबू से दबकर,
महक जिन्दगी के गुलाब की मर जाती है।" (गुलमेहंदी, पृ.६३)

अपने गांव कमासिन के प्रति भी कवि का गहरा लगाव है। उसने इसे बढते- परिवर्तित होते हुए देखा है। वास्तव में कवि इस बहाने भारतीय गांवों की प्रचीनता और उसमें रची-बसी सभ्यता को भी देखता है। शताब्दियों बाद भी भारतीय गांवों की जीवंत परंपराएं अपने होने का अहसास दिलाती हैं-

"कमासिन मेरा गांव
एक पुराना गांव है !
अतीत में पहले कभी आबाद हुआ होगा।
शताब्दियां लग गई होंगी
बडे होने में : इतना होने में।" (आग का आईना, पृ.६३)

कवि ने जहाँ ग्रामीण, शोषित-उत्पीड़ित जन को मुख्य रूप से अपनी कविता का विषय बनाया है, वहीं ग्रामीण परिवेश और उसकी जन संस्कृति के प्रति भी अपना गहरा लगाव प्रकट किया है। केदारनाथ अग्रवाल के हृदय का वास्तविक उल्लास गाँव और उसके खेतों में ही देखनको मिलता है। 'बसंती हवा', 'लाखों की अगणित संख्या में', 'धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने' आदि कविताएं कविता का एक नया लोक दिखाती हैं। प्रातः कालीन एक ग्राम की अवस्था का भावमयी चित्रणदेखने योग्य है-

''धीरे से पाँव धरा धरती पर किरनों ने,
मिट्टी पर दौड़ गया लाल रंग तलुवों का।
छोटा सा गाँव हुआ केसर की क्यारा सा,
कच्चे घर डूब गये कंचन के पानी में।'' (फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.३३)

केदारनाथ अग्रवाल नेअपनी कविता के माध्यम से ग्रामीण जीवन में अत्याचर और अन्याय की प्रवृत्तियों को अनेक रूपों में, अनेक स्वरों में निरंतर चुनौती दी है। उन्हें आरम्भ से ही यह चिन्ता रही है कि स्वाधीनता के बाद भी अंग्रेजों की शोषणकारी व्यवस्था नहीं बदली बल्कि उसके अवशेष अभी बने हुए है। ''वही कर्ज है, वही सूद है, वहीं जमींदारों का हक है।''कहकर उन्होंने उस विषम स्थिति को सन् ३७ में ही रेखांकित किया था। कवि सामान्य जन कीसमस्यायों का कारण पूँजीवादी राजनीतिक सत्ता को मानता है। जो सामन्तवाद से गठजोड़ किए हुए है। इसलिए वह दोनों का विरोध करता है। वह कह उठता है-

''हमारी जिन्दगी के दिन,
बड़े संघर्ष के दिन हैं।
हमेशा काम करते हैं,
मगर कम दाम मिलते हैं।
प्रतिक्षण हम बुरे शासन-
बुरे शोषण से पिसते हैं
अपढ़, अज्ञान, अधिकारों से
वंचित हम कलपते हैं।
सड़क पर खूब चलते
पैर के जूते-से घिसते हैं।।
हमारी जिन्दगी के दिन,
हमारी ग्लानि के दिन हैं।।''(कहें केदार खरी-खरी, पृष्ठ-३०)

'नींद के बादल' शीर्षक अपने प्रथम काव्य संग्रह में केदारनाथअग्रवाल का प्रेम और श्रृंगार के कवि के रूप में आगमन हुआ था। 'मैं पति हूँ- अब तुम पत्नी हो।' कविता में कवि ने अपने गार्हस्थ प्रेम को जिस आंचलिक पृष्ठभूमि पर चित्रित किया है, वह अपने आप में प्रेम का अत्यन्त भव्य उदाहरण है।

प्रेम के साथ केदार सौंदर्य के भी कवि है। उनकी सौंदर्य चेतना अत्यन्त संवेदनशील है। वे अत्यन्त सरल और सहज भाव से ही अपनी एंद्रिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हैं। स्वयं कवि के शब्दों में- ''मेरी कविताओं में शिल्य का सौंदर्य है। वह सौंदर्य अनेक भावों में व्यक्त होता है।'' (फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.०७) केदार के लिए प्रकृति के प्रति आकर्षण

शाश्वत के प्रति आकर्षण है। कवि ने नदी, पहाड़, खेत,वृक्ष, संध्या, प्रातः इत्यादि प्राकृघतिक सौंदर्य का उद्घ्घाटन अपने कविता"जुताई का गाना"में इसी प्रकार किया है -

"मेरे खेत में हल चलता है,
नाहर बैल जुंआ कँधियाये,
ऊँचे-ऊँचे श्रृंग उठाए,
धौलागिरि से हैं मन भाये।
मेरे खेत में हल चलता है" (गुलमेहंदी, पृ.६७)

केदारनाथ अग्रवाल मार्क्स के सिद्धान्त से प्रभावित कवि है। शोषित एवं शोषक समाज को दो वर्गों में रखकर उन्होंने कविताएं लिखीं। शोषण को समाप्त करने का हल उन्हें मार्क्सवाद में दिखाई देता है। हलांकि अपनी रचना यात्रा के उत्तरार्द्ध में उनके दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन हो गया। कवि ने १९४८ में 'मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोर्चे पर' शीर्षक कविता में शोषण का अन्त साम्यवादी व्यवस्था से समाप्त करने का आह्वान करता हुआ कह उठता है-

"भूमि के हड़पे हुए धरणीधरों को
मैं प्रलय के साम्यवादी आक्रमण से मारता हूँ।" (फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.३३)

केदारनाथ अग्रवाल की कविता अपने विषय और वस्तु के आधार पर ही नहीं अपितु रचना-शिल्प की दृष्टि से भी अपनी विशिष्ट पहचान रखती है। केदार को जीवन का सच्चा भाष्यकार कहा जाता है। 'हम जीवन के भाष्यकार हैं, हम कवि है जनवादी।' उनकी कविता में सपाट बयानी है। वे ऐसी भाषा के समर्थक हैं जो किसान और मजदूर की वाणी हो। उन्होंने किसानों और मजदूरों का शोषण करने वालों पर नागार्जुन की तरह करारे व्यंग्य किए हैं। नामवर सिंह ने इस संबंध में अपना मत रखते हुए कहा है कि- "प्रगतिशील कवि जब व्यंग्य लिखते हैं तो उनकी भाषा का बाँकपन देखने लायक होता है। हिन्दी कविता में व्यंग्य-काव्य का जितना सुन्दर विकास प्रगतिवाद में हुआ, उतना कहीं नहीं। नागार्जुन और केदार के नुकीले व्यंग्य कितने प्रभावशाली हैं इसे जनता के दुश्मन भी जानते हैं। हिन्दी कविता में व्यंग्य या तो निराला ने लिखे या फिर नागार्जुन और केदार ने।" (आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ. ८१) केदार की भाषा सहज, सरल एवं प्रवाहमयी है, जो अपने में आंचलिकता को भी समेटे हुए है। वे लोक शब्दों का सार्थक प्रयोग करते हैं। फूहड़, पट्ठे, बौडेम, रंगी, भिनसार, मुरैठा, कुनबा जैसे ग्रामीण शब्दों के साथ एक्सीडेंट, आर्डिनेंश, लाकेट जैसे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में उन्होंने किया है। मुहावरों के प्रयोग से उनकी भाषा अत्यन्त सजीव हो गयी है। कहा जा सकता है कि केदार की भाषा सहज, सरल एवं बोधगम्य है एवं वह बाध्य आडम्बरों में न फंसकर भावानुसारिणी एवं लोक जीवन के निकट है।

केदार ने एक ओर अपने आदर्श 'निराला' कीतरह मुक्तक छन्द का प्रचुर प्रयोग किया है, वहीं जनगीत एवं लोक गीतों को अपनाकर नयी धुनों का सृजन भी किया है। केदार अपनी बात मुक्त कंठ से बेझिझक सामान्य जन के निकट रखना चाहते थे। अतः मुक्तक छंद का चुनाव उन्हें अनिवार्य प्रतीत हुआ। स्वंय कवि के शब्दों में- "सूक्ष्म संवेगों की मेरी कविताएँ सूक्ष्म हैं। उन्हें बड़ी करना गलत होता। कहीं वे छन्दबद्ध हैं। कहीं मुक्त छन्द में हैं। उनके लिए मैंने नहीं, संवेगों ने ही लय और रूप खोजा है। वे इसलिए नहीं लिखी गयीं कि उनसे रस का पूरा आस्वाद मिले। यदि वे रस न दें तो यह उनकी नहीं, मेरी मेहरबानी होगी।।"(फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ. ०८) केदार ने मुक्त छंद की तरह कहीं-कहीं तुकांत कविता भी लिखी है। जैसे- 'गाँव का महाजन' आदि। छायावादी कवियों की भांति भले ही इनका छंद विधान सुष्ठु न हो, पर जनसामान्य के मध्य इन्होंने जो प्रस्तुति की है, वह लोकजीवन की सच्ची तस्वीर उतारने में पूर्ण सक्षम कही जा सकती है।

काव्य में बिंब एवं प्रतीकों के प्रयोग से काव्य में अर्थगाम्भीर्य एवं लाक्षणिकता का प्रवेश होता है। नयी-नयी अर्थ छवियों का उद्‌घाटन होता है।नयी उपमान व्यवस्था, बिम्बात्मकता और प्रतीकात्मकता की दृष्टि से केदार का काव्य पर्याप्त सम्पन्न है। समीक्षक नंदकिशोर नवल कहते हैं कि ''प्रेम और प्रकृति में से केदार में कौन प्राथमिक है और कौन द्वितीय स्थान पर कहना मुश्किल है। प्रेम से भी अधिक उन्होंने प्रकृति की कविताएँ लिखी हैं, जो चित्रात्मक तो हैं ही, अन्य अनेक विशेषताओं से भी युक्त हैं।'' (आधुनिक हिंदी कविता का इतिहस, पृ. ३४७) इस दृष्टि से केदार की 'धूप' कविता का उदाहरण लिया जा सकता है। माघ-पूस की धूप और फसलों की हरियाली के आपसी सम्पर्क के जो रमणीय बिम्ब कवि ने प्रस्तुत किए हैं, वह देखते ही बनता है-

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने
मैके में आयी बेटी की तरह मगन है।
फूली सरसों की छाती में लिपट गयी है,
जैसे दो हमजोली साखियां गले मिली है। (फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.६३)

इसी प्रकार केदार ने अपनी प्रभावशाली प्रतीक योजना से भी अपने काव्य को समुन्नत किया है। इन्होंने भिक्षुक दुःख में 'आँसू' प्रतीक का प्रयोग उसके दुरूख के लिए किया है। वहीं 'कोयला' कविता में कोयला श्रमजीवी का प्रतीक है। इसमें कवि ने नवीन क्रांति को देखा है। इसी के माध्यम से कवि श्रमिकों की जागृत चेतना को स्पष्ट कर देना चाहता है। प्रगतिशील कविता का शिल्प की दृष्टि से जो सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है, वह उसका व्यंग्य-विधान है। इस दृष्टि से केदार का काव्य उल्लेखनीय है। उनके व्यंग्य की तीखी नोख शोषणकारी व्यवस्था और शोषक-उत्पीड़क वर्गों की ओर अधिक रही है। गाँव के सूदखोर महाजन पर कवि ने इसी

प्रकार का व्यंग किया है। यथा-

वह समाज के त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन।
गौरव के गोबर गनेश-सा मारे आसन,

x x x

ब्याज-स्तुति में बांट रहा है रुपया-पैसा। (फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.८२)

यहाँ कवि के मन का सारा क्षोभ व्यंग्य के माध्यम से पाठक के सामने मूर्त हो जाता है। 'आग लगे इस राम-राज में' 'कांग्रेस के राज में', 'कहीं न देखी ऐसी रात', 'तीरथ है कलियुग का थाना' आदि कविताओं में प्रयुक्त व्यंग्य वर्तमान शासक वर्ग के चरित्र और उसकी शासन व्यवस्था पर गम्भीर आक्षेप है। केदार ने अपने काव्य को अलंकारों से सजाने का प्रयास नहीं किया है। वेतो स्वयं ही अनायास आ गये है। फिर भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग कवि के अभिव्यक्ति पक्ष को पुष्ट करता है। कवि ने मानवीकरण का प्रयोग इतना दर्शनीय किया है कि देखते ही बनता है-

वसन्त आया!
पलास के बूढ़े वृक्षों ने
टेसू की लाल मौर सिर पर धर ली।
विकराल वनखण्डी
लजवन्ती दुलहिन बन गयी,
फूलों के आभूषण पहन आकर्षक बन गयी।
अनंग के
धनु-गुण के भौरें गुनगुनाने लगे,
आम के अंग
बौरों की सुगन्ध से महक उठे,
मंगल गान के सब गायक पखेरू चहक उठे। (फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.११०)

कविता की रचना के दौरान वैचारिक दृष्टि अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। दृष्टि के इसी वैचारिक में रचना की मूल्य दिशा और उसके संवेदनात्मक उद्देश्य निर्धारित होते चलते हैं। रचना के लिए तथ्य, दृश्य, चरित, तर्क और भाषा इन्हीं उद्देश्यों की पहल पर सम्पन्न होता है। रचना कर्म को एक गंभीर सामाजिक दायित्व मानने वाले कवि की हैसियत से केदारनाथ अग्रवाल ने रचना-प्रक्रिया में कविता भाषा, विचार और संवेदना के रिश्तों पर अपने मौलिक सोच को व्यवाचित रूप में इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है।" पहली बात यह हैकि 'संज्ञान' से प्राप्त हुए सत्य की अभिव्यक्ति करने वाली कविता तभी कविता होगी, जब वह कलात्मक होगी। कलात्मक होने की पहली शर्त यह है कि वह सत्य लोक जीवन को बिम्बित

करने वाली हो यानी कि वस्तुगत सत्य को उसकी समग्र वस्तुसत्ता के एवं अंतर्विरोधों के साथ व्यक्त करने वाला हो।" (विचार बोध, पृ.१०६)

कवि के रचना कर्म की सिद्धि यही है कि एक से सामानिक जीवन संदर्भों से अपनी अंतर्वस्तु ग्रहण करने वाली कविता असंख्य कविताओं के बीच उसकी कविता अपने निजी वैशिष्ट्य के आधार पर कवि के व्यक्तित्व की अलग पहचान स्थापित करती हो। मनुष्य जिस परिवेश में रहता है जिन लोगों के साथ वह जीता , जागता और श्रम करता है। जिस तरह से अपनी दिनचर्या चलाता है। वास्तव में वहीं से अपने विचारों , अनुभूतियों का निर्माण भी करता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि केदार की कविताओं में सहजता और वास्तविकता है। जहाँ कवि प्रकृति और मानव का अभिन्न रूप प्रस्तुत करता है, वहाँ उसकी कविता आलंकारिक रूप धारण कर जाती है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनका काव्यजन-जीवन के निकट, निर्धन एवं सताए हुए का जन के सहानुभूति के प्रति भरा हुआ है। वे भावानुकूल भाषा के समर्थक हैं, उनके भावोच्छ्वास में ताजगी है। वे उजाले और उल्लास के कवि हैं, प्रणय गीतों में लोकगीतों के रसपूर्ण गंध के कवि हैं। साथ ही राजनीति के वर्ग-संघर्ष के स्वर भी उनकी कविता में पूर्ण कलात्मक ढंग से अभिव्यंजित हुए हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. फूल नहीं रंग बोलते हैं- साहित्य भंडार, इलाहबाद, प्रथम संस्करण २००६
२. आग का आईना- साहित्य भंडार, इलाहबाद, प्रथम संस्करण २००६
३. कहें केदार खरी-खरी- साहित्य भंडार, इलाहबाद, प्रथम संस्करण २००६
४. गुलमेंहदी- साहित्य भंडार, इलाहबाद, प्रथम संस्करण २००६
५. विचार बोध - साहित्य भंडार, इलाहबाद, प्रथम संस्करण २०१०
६. डॉ० चंद्र त्रिखा - प्रतिनिधि आधुनिक कवि, हरियाणा साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण २००३
७. नामवर सिंह- आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियां , लोकभारती, नवीन संसकरण २००८
८. नंदकिशोर नवल- आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास,भारतीय ज्ञानपीठ, तृतीय संस्करण २०१६

-सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११०००७
मोबाईल- ६६६८६३७३४५
ई-मेल : akpuri@hindi-du-ac-in

सांस्कृतिक बोध का जीवन्त दस्तावेज : शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ

–डॉ० अजीत सिंह

भारत से सम्बंधित संस्कृति को 'भारतीय संस्कृति' कहा जाता है। भारत ग्राम प्रधान देश है। भारत का वास्तविक स्वरूप ग्रामों में ही देखने को मिलता है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार कृषि है। यह भारतीय ग्रामीण समाज का महत्वपूर्ण साधन है। ग्राम्य जीवन को पूर्णतः जानने के लिए इसके ग्रामीण संस्कारों को जानना अत्यंत आवश्यक है। इसी के अंतर्गत भारतीय संस्कृति का स्वरूप विद्यमान है। इस संदर्भ में ग्रामीण संस्कृति को ही भारतीय संस्कृति के रूप में स्वीकार करना उचित रहेगा। ग्रामीण पर्व त्यौहार, मेले, लोकगीत, लोक कथाएँ, कीर्तन प्रथाएँ, विवाह प्रथाएँ, शिशु के जन्म के समय किए जाने वाले संस्कार छठीं, बरही एवं अन्य रीति-रिवाज आदि ही ग्रामीण संस्कृति के मूल आधार हैं। ये सारे तत्व ग्रामीण जीवन को सुव्यवस्थित करते हैं।

ग्रामों के विवाह अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भारतीय समाज में नैतिकता की स्थापना के लिए, सामाजिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए तथा सामाजिक विकास के लिए विवाह की नैतिक परम्परा का विशिष्ट स्थान है। विवाह एक ऐसा आदर्श है जिसके आधार पर मनुष्य परिवार की नींव डालता है। ग्रामीण संस्कृति में विवाह के कुछ अलग रीति-रिवाज हैं। वहाँ विवाह के अवसर पर जो संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं उनका अत्यंत सुन्दर वर्णन शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में हुआ है।

'हत्या और आत्महत्या के बीच' कहानी में शोभा के गौने का वर्णन हुआ है। बतलाया गया है कि लड़की की विदाई गाँव में विशेष स्थान रखती है- ''उस समय तक बाराती सुबह की ठन्ड़ी हवा में ऊँघ रहे थे। रात-रात भर तक बारातियों की शाहखर्ची और दिलवरी का ढिंढ़ोरा पीटते-पीटते थककर बाई जी सो गयी थी।''[१] लड़की की विदाई के अवसर पर भी जिन संस्कारों को सम्पन्न करना होता है, उनमें लड़की के माता-पिता को विशेष उत्तरदायित्व निभाना होता है।

इस प्रकार गाँवों में विवाह के संस्कार अभी भी परम्परागत रूप में सम्पन्न किये जाते हैं। इन संस्कारों को आज भी उतना महत्व प्राप्त है। इन संस्कारों के प्रति ग्रामवासियों की श्रद्धा

भी प्रशंसनीय है। सबके सहयोग से गाँवों में विवाह कार्य सम्पन्न होते हैं। यह भारतीय ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक विशेषता है।

पूर्वांचल के गाँवों में विवाह के पश्चात् लड़की का तीज के अवसर पर साड़ी भेजी जाती है। यह प्रथा आज भी प्रचलित है। इस प्रथा का उल्लेख शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कुछ कहानियों में किया है।

'अन्धकूप' कहानी में सोनी भाभी का छोटा भाई तीज लेकर आता है। किंतु सास के आत्याचार के कारण सोनी उस तीज को नहीं ले पाती- ''दो दिन पहले उनका छोटा भाई आया था तीज लेकर। माँ के हाथों बनायी केसार और साड़ी लेकर जिसे दीपू की चाची ने गली में फेकवा दिया। भाई रोता रहा, पर उसे बहन से मिलने न दिया गया।''[२] गाँव में निर्धन अवस्था में भी माता-पिता को यह तीज लड़की के पास आवश्यक रूप से भेजना पड़ता है। यह ग्रामीण संस्कार लड़की को उसके मायके से मिलने वाला सम्मान है, जिसे उसे स्वीकार करना पड़ता है। लड़की के ससुराल वालों के भय से लड़की के माता-पिता को तीज भेजते समय अधिक सतर्क होना पड़ता है। वरना लड़की को ससुराल वालों की ओर से सोनी की तरह अपमानित होना पड़ता है। भारतीय ग्रामों में पर्व-त्यौहार को विशेष स्थान प्राप्त है। पर्व-त्यौहार ग्राम्य-जीवन के संस्कारों को व्यक्त करते है। शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कहानियों में विभिन्न पर्व-त्यौहारों का विस्तृत वर्णन किया है।

'देऊदादा' कहानी में रामनवमी के दंगल का उल्लेख हुआ है- ''अबकी नवमी को सदा की भांति फिर दंगल का आयोजन हुआ। जयकरन फिर उस्ताद बना। लड़ने वालों को छुड़ाना, निर्णय देना यही उसका काम था। कभी-कभी आँख उठाकर यह मन्दिर की ओर देखता। औरतों के भारी समाज में कितनी जोड़ा आँखें उसकी परिचित हैं। यही जानना चाहता। गाँव वालों को उसकी यह चाल बड़ी बुरी लगती। पर जमींदार के डर से किसी की साँस न निकलती।''[३] इस प्रकार कुश्ती में अक्सर गाँव के जमींदार की बेईमानी से या कुश्ती लड़ने वाले पहलवानों के गलत दाँव पेंच से जब झगड़ा पैदा होता तब प्रायः न्याय का पक्ष नहीं लिया जाता। कुश्ती देखने वालों में कुछ न्याय के पक्ष में बोलने का प्रयत्न तो करते हैं, परंतु उनका साहस भी एकतरफा ही होता है। अक्सर लोग इस विषय में चुप रहना ही ठीक समझते हैं।

गाँवों में भजन कीर्तन का भी विशेष महत्व होता है 'खैरा पीपल कभी न डोले' कहानी में चमारों के कीर्तन का वर्णन हुआ है- ''हमारे गाँव की चमटोली में भी सिवनरायन गुरू की गादी लगती थी। दूर-दूर के चमार दर्शन करने आते। उस दिन हक के दरवाजे पर दरी बिछती और बड़ी भीड़ होती। सामने की चादर चावल से भर जाती। कुछ रूपया-पैसा भी गिरता। हमको गादी की चौकी बहुत पसंद आती। हरी लाल पन्नी से सजाकर चौकी पर शिवनरायन

गुरू की तस्वीर लगाई जाती। नाच-गाना भी होता। पहले तो किर्तनिया लोग धीरे-धीरे कुछ मधुर स्वर में गुनगुनाते, फिर अचानक जाने क्या होता कि कोई जोर से होए कहता और ढ़ोलक बड़ी तेजी से बजने लगती, सभी ताली पीट-पीटकर झूमने लगते-

एही पार गंगा, ओही पार जुमना
होए-ए ए
बिचवा में साहब का डेरा।
बिचवा में साहब का डेरा।। [४]

चमारों के लिए यह कीर्तन अपनी बस्ती का प्रमुख सांस्कृतिक आयोजन है। इसे वे परम्परागत रूप में मनाते आए हैं। आज भी गाँवों में इस तरह के कीर्तन चलते रहते हैं। यह कीर्तन उनकी अपने गुरू के प्रति श्रद्धा के प्रतीक हैं। इस सत्संग में गाने-बजाने का प्रबंध अवश्य होता है, जो चमारों द्वारा ही आयोजित किया जाता है।

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में लोकगीतों की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। लगभग प्रत्येक प्रदेश के आंचलिक क्षेत्रों में अपने-अपने लोकगीत गाने की प्रथा प्रचलित है। ये लोकगीत, किसी पर्व-त्यौहार या उत्सव विशेष पर गाये जाते हैं अथवा किसी स्थानीय घटना पर बना लिये जाते हैं।

'कर्ज' कहानी में जगपती अपने भाई के विवाह हो जाने पर बहुत प्रसन्न होता है। अनुज वधू के आगमन से उसके आनन्द को दुगुना कर देता है। उसका गाया यह गीत-

"अमवा के डारी में मोजरि फूलेले
गुलरी फुलेले हड़फोर
गोरिया के छतिया जोबनवां फुलेला
कि फाटेला करेजवा रे मोर।।" [५]

इस प्रकार लोकगीतों के आधार पर ग्रामीण अपने सुख-दुःख का परिचय देते हैं। लोकगीत वस्तुतः मनुष्य की मानसिकता का परिचय देते हैं। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में लोकगीतों की छटा दर्शनीय है।

वेशभूषा का सम्बंध भी मनुष्य के संस्कारों से होता है। जाति विशेष के आधार पर लोगों के पहनावे होते हैं। गर्म प्रदेश के लोगों की वेशभूषा ठण्डे प्रदेश के लोगों की वेशभूषा से भिन्न होती है। उसी प्रकार अमीर और गरीबों की वेशभूषा में भी पर्याप्त अंतर होता है।

'उसकी चिट्ठी आई थी' कहानी में लेखक ने डाकिए की वेशभूषा पर बहुत कुछ कहा है- "गजब होती है इनकी ड्रेस भी जैसे सरकार डाकिये की ड्रेस पर खास ध्यान देती है। मटमैली खाकी की चुस्त पतलून जो औसत से ज्यादा सँकरी होने के कारण घुटने के ऊपर के भाग को काफी कस देती है और इसी वजह से थोड़ी सिकुड़ कर उटुंग-सी लगती है। निचले भाग से लचीली किंतु मजबूत ढाँगे साफ उभाड़कर दिखाई पड़ती हैं। ऊपर क्रीजहीन मटमैला

पीतल की गोल-गोल उभरी हुई बटनों वाला कोट और सिर पर उसी मटमैली खाकी का मुरेठा। सब कुछ मिलाकर जैसे डाकिए की पोशाक दूर से ही उसके व्यक्तित्व की घोषणा करती है।''[६]

लेखक का यह वर्णन पाठक की आँखों के समक्ष डाकिए का स्वरूप अंकित करने में सक्षम है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कहानियों में भारत के पूर्वी क्षेत्र में व्याप्त सांस्कृतिक जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। शिवप्रसाद सिंह ने सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक पहलू जैसे विवाह, जन्म, पर्व-त्यौहार, लोकगीत, वेशभूषा, खानपान, भाषा, बोली आदि पर प्रकाश डाला है। शिवप्रसाद सिंह ग्राम कथाकार के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं। शहरों के उनके वर्णन उतने प्रभावकारी नहीं हैं। नाममात्र के लिए वे शहरी परिवेश से स्वयं को जोड़ने का प्रयास करते हैं, किंतु इसमें वे सफल नहीं हो पाते। शहरी जीवन से संबंद्ध उनकी कहानियाँ पाठक को उतनी याद नहीं रह पाती हैं जितनी की ग्रामीण जीवन से संबंद्ध। आर-पार की माला, कर्मनाशा की हार आदि कहानियाँ पाठकों को हमेशा याद रहेंगीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. एक यात्रा सतह के नीचे (कहानी-संग्रह), हत्या और आत्महत्या के बीच, शिवप्रसाद सिंह, संस्करण २००५, पृ० २३४
२. अधंकूप (कहानी-संग्रह), अंधकूप, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण २००३, पृ० २८३
३. अधंकूप (कहानी-संग्रह), देऊ दादा, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण २००३, पृ० ६५
४. एक यात्रा सतह के नीचे (कहानी-संग्रह), खैरा पीपल कभी न डोले, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण २००५, पृ० १३९
५. एक यात्रा सतह के नीचे (कहानी-संग्रह), कर्ज, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण २००५, पृ० १५१
६. अंधकूप (कहानी-संग्रह), उसकी भी चिट्ठी आयी थी, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली, संस्करण २००३, पृ० ६४।

-असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी
प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या)
विश्वविद्यालय प्रयागराज
फोन : ९६९६२५२४२१

शिवकुमार मिश्र एवं हिन्दी आलोचना

–डॉ० सुनीलकुमार बारीआ

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल के साथ ही गद्य की अनेक विधाओं का विकास हुआ। उपन्यास, कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र के साथ-साथ एक और विधा भी उभरकर सामने प्रस्तुत हुई, और वह विधा है- आलोचना। आलोचना के बारे में किसी ने इसीलिए कहा है- **''आज हिन्दी आलोचना को अभिजन संस्कृति का हिस्सा बनने और उसकी सामाजिकता को सीमित करने का काम आलोचना की भाषा भी कर रही है। आज की हिन्दी आलोचना को समझने के लिए हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत और अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। हाल के वर्षों में हिन्दी आलोचना में संस्कृत से अधिक अंग्रेजी का आंतक बढ़ रहा है।''**[१] भारत में नगेन्द्र, नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा जैसे विशुद्ध आलोचक सामने आते हैं। उन्होने इस विधा को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण, अज्ञेय का योगदान भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी बीच एक और आलोचक हिन्दी साहित्य में उभरकर सामने आये, जिनका जन्म उत्तरप्रदेश के ऐतिहासिक धरातल पर पर हुआ था। वैसे शिवकुमार मिश्र का नाम हिन्दी साहित्य में एवं आलोचना के क्षेत्र में सुवर्ण अक्षर से लिखा है। शिवकुमार मिश्र हिन्दी साहित्य के प्रतिवद्ध मार्क्सवादी आलोचक थे। मुख्यतः सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में गतिशील रहने के बावजूद व्यावहारिक आलोचना से भी उनका जुडाव बना रहा है। गहन विवेचन में भी सहज संप्रेषणीयता उनके लेखन की प्रमुख विशेषता रही है। शिवकुमार मिश्र लिखते है कि- **''आलोचना का इतिहास साक्षी है कि कदाचित ही कोई आलोचना निर्विवाद स्वीकार हुई हो। फिर भी, जब से रचना है, आलोचना का भी अस्तित्व है। और जबतक रचना रहेगी, सौदार्यपूर्ण-तनावपूर्ण कैसे भी संबंधो के बावजूद अलोचना भी बनी रहेगी।''**[२]

आलोचना के प्रमुख धनी वैसे शिवकुमार मिश्र सन् १९५९ से १९७७ तक सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में व्याख्याता तथा रीडर रहे। सन १९७७ से १९९१ तक गुजरात के वल्लभ विद्यानगर स्थित सरदार पटेल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा विभाग अध यक्ष रहे। शिवकुमार मिश्र आलोचना के क्षेत्र में वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और रामविलास शर्मा से ज्यादा प्रभावित थे। हमने देखा कि मिश्रजी मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होने के बाद भी उनकी आलोचना में वैचारिक कट्टरता नहीं दिखाई

देती। उन्होने अपना लेखन कार्य एक निष्ठावान साधक की तरह किया है। आधुनिक काल की आलोचना के अतिरिक्त मध्यकाल पर भी उनकी गहरी पकड़ थी। मध्यकाल की विशेषज्ञता के बावजूद उन्होने प्रमुख रुप से आधुनिक काल के विविध साहित्य रूपों के संदर्भ में अधिक विवरण किया है। मिश्रजी की आरंभिक दो पुस्तके व्यावहारिक आलोचना की ही थी, लेकिन बाद में सैद्धांतिक लेखन के साथ अधिकांश पुस्तकों में व्यावहारिक विवेचन भी प्राप्त होता है। वर्तमान समय पर दृष्टिपात किया जाय तो आलोचना की भाषा जटिल होती जा रही हैं। प्रत्येक आलोचक को आलोचना की भाषा को लेकर भी सोचना चाहिए। अगर माना जाता है कि साहित्य का काम मदारी की तरह लोगों का मनोरंजन करना न होकर हाशिये के समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता और सामाजिक दायित्व का निर्वाह करना है, तो यह आवश्यक है कि आलोचना भी अपने भाषिक चरित्र में अभिजन संस्कृति का साथ न देकर दलित, शोषित, एवं उत्पीडित का साथ दे। आलोचना एवं समीक्षक यदि इस प्रणाली से दूर रहते है तो शिवकुमार या दूसरे प्रगतिशील आलोचकों को इस तथाकथित बुर्जुआ आलोचना के प्रति खेद होना स्वभाविक ही है।

शिवकुमार मिश्र की एक बात महत्वपूर्ण थी कि वे राजभक्ति वाले स्वर को उस समय का मूलवर्ती स्वर स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। मिश्र जी ने उसे समय का दबाव स्वीकार किया है। देखने से बात साफ भी लगती है कि जैसे-जैसे स्वतन्त्रता आंदोलन जोर पकडता गया, रचनाकारों की भाषा में विदेशी शासन के प्रति घृणा दिखाई देने लगी। इस बीच शिवकुमार मिश्र लिखते है कि- **"सवाल महज इतना है कि इतिहास के कुछ तथ्यों को उभारकर और कुछ दूसरों को ढंककर हम उसके विश्लेषण में मनमानी नहीं करें। हमारा कहना केवल यही है कि हिन्दी जाति और उसकी जातीय सर्जनात्मक उप्लब्धियों को उसकी संपूर्ण वस्तुमत्ता के साथ हमारी पहचान का विषय बनाया जाए ताकि हम हिन्दी वाले आत्ममुग्ध न हो सकें, अपनी अस्मिता के महत ऊर्जस्वित तथा स्फीत रुप को ही देखकर, अपनी कृतित्व को दूसरी जाति वालो से विशिष्ट मानकर।"**[३]

शिवकुमार मिश्र ने अपने एक निबंध 'रचना ओर आलोचना' में रचना और आलोचना के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है। इस निबंध के माध्यम से उन्होंने प्रकारांतर से रचनाकार एवं आलोचक के सम्बन्धों की भी विवेचना की है। मिश्रजी ने रचना को एक अत्यंत जटिल एवं संश्लिष्ट कार्य व्यापार माना है। रचना इसलिए संश्लिष्ट कार्य व्यापार है क्योंकि इसमें न सिर्फ रचनाकार के जीवानानुभव होते है, बल्कि उनका इंद्रियबोध एवं विचार भी उसमें छुपे होते हैं। इसलिए शिवकुमार मिश्र लिखते है कि- **"आलोचना का धर्म है कि वह रचना केन्द्रित होते हुए भी उसके उन स्त्रोतों का उदघाटन करें, जहाँ से उसने ऊर्जा और जीवन-रस प्राप्त किया है। यह भी बताए कि जीवन के साथ रचनाकार का**

संबंध कैसा है, और यदि रचना सचमुच जीवन की कलात्मक पुनः प्रस्तुति है, तो आलोचना यह भी बताए कि रचना के अंतर्गत जीवन की कलात्मक पुनः प्रस्तुति किस सीमा तक अपनी संभावनाओं तथा रचना की अपेक्षाओं के अनुरुप हो सकी है।''[४] मिश्र जी का यह भी दावा है कि कोई रचनाकार चाहे कितना भी दावा कर ले कि वह अमुक रचना स्वांतः सुखाय के लिए लिखा तब भी उसकी रचना कहीं न कहीं और किसी न किसी पाठक वर्ग, ग्राहक या श्रोता को संबोधित होती है। अतः- **''आलोचना का यह धर्म बनता है कि वह इस बात की पड़ताल करे कि रचनाकार अपने अनुभूत को उस तक समग्रता में, पूरे प्रभाव के साथ संप्रेषित कर रहा है या नहीं।''**[५]

शिवकुमार मिश्र ने अपने एक अन्य निबंध 'दर्शन एवं समाज' में दर्शन एवं समाज के अंतरसंबंधों पर प्रकाश डाला है। दर्शन के अनुसंधान में इतना ही समझा जाता रहा है कि उसका काम समाज को समझना है, इसके विपरीत मिश्र जी का मानना है कि दर्शन का उद्देश्य केवल समाज को समाना नहीं अपितु समाज को बदलना होना चाहिए। मित्र जी ने लिखा है कि- **''दर्शन और दार्शनिक चिंतन की सार्थकता उनके इस प्रकार का दर्शन बनने में है जिसे जिया भी जा सके, जिसे कर्म के दर्शन के रुप में स्वीकार किया जा सके और जो केवल कर्म का आख्यान ही न करता हो, उसका पथ भी सुधाता हो, केवल मार्गदर्शक ही न हो, एक बेहतर संसार तथा समाज-रचना में सक्रिय भागीदारी निभाते हुए उसे पथ पर चलने की विधि भी सिखाता हो।''**[६] मिश्र जी का मानना है कि दर्शन ऐसा होना चाहिए जो आम आदमी की लडाई में सहभागी हो। मनुष्य के भीतर वैसे दर्शन की आवश्यकता नहीं है जो मनुष्य को निराश बनाए, उसकी अक्षमता को रेखांकित करे, जिस से मनुष्य किसी भी प्रकार का अभिशप्त प्राणी न होकर एक चिंतनशील एवं कर्मशील प्राणी बने। मिश्रजी ने दर्शन के क्षेत्र में धर्म की दखल को अहेतुक माना है। इनके अनुसार- 'दर्शन और दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में धर्म तथा धर्मशास्त्रों की दखल सर्वथा अहेतुक है और धर्म तथा धर्मशास्त्रों को, दर्शन को विरुप करने का कोई अधिकार नहीं है।'[६] शिवकुमार ने साहित्यिक आलोचना से अलग जिन चीजों पर लिखा है उनमें मीडिया पर लिखा गया उनका सारगर्भित लेख ''मीडिया का मायाजगत'' महत्वपूर्ण लेख माना जाता है। इस लेख के माध्यम से इन्होंने विज्ञापन और बाजारवाद के दुष्परिणामों को उदघाटित किया है। मिश्र जी लिखते है कि- **''जो कुछ देखने और सुनने के लिए टीवी खोलता है तो उपभपक्ता-सामग्री के झंझावाती हमला। अखबारों का हाल यही है, पन्ने दर पन्ने विज्ञापनों का अंबार। विज्ञापन भी नए और अजूबे, किस्म-किस्म के विज्ञापन, किस्म-किस्म की चीजों के विज्ञापन। सब के सब समाज के उन्हीं वर्गों को ध्यान में रखकर सोचे और बनाए गए, जिनके पास या तो सुख की इस सामग्री को बटोरने के अभूत साधन हैं, या जो इन साधनों की जुगाड में रात-दिन एक किए हुए है**

और उन्हें पाने के लिए अपना जमीर, अपने मन और घर की सारी सुख-शांति, कुछ भी दाँव पर लगाने को तत्पर है, जो उन्हें पाने के लिए बेचैन हैं, कुढ और घुट रहे हैं, गलाकाटू होड में हैं।"[७]

मीडिया विज्ञापन के द्वारा एक नया बाजार तैयार करता है। यह न सिर्फ उत्पाद का विज्ञापन करता है, उसके अतिरिक्त ग्राहकों को भी तैयार करता है। मीडिया ने विज्ञापन के लिए शायद ही कोई उत्पाद छोडा हो। खाने-पीने से लेकर कपडे- रसोई, वाहनव्यवहार संक्षिप्त में कह सकते है कि जीवन जरुरियात सभी चीजें विज्ञापन के माध्यम से प्राप्त होती है। इसीलिए मिश्र जी लिखते है कि- **"स्वस्थ-सुंदर, लड़के-लडकियाँ, बच्चे सबका भरपूर इस्तेमाल है इन विज्ञापनों में। इन विज्ञापनों को देखकर लगता है सचमुच हिंदुस्तान नई सदी में पहुँच गया है। कदाचित ही कोई विज्ञापन हो जिस में नारी और नारीदेह का व्यावसायिक इस्तेमाल न होता हो। मोसल- वे युवक हो य युवतियाँ, किसी भी सीमा तक अपने व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए तैयार हैं।"** [६]

विज्ञापनों की तरफ ललचाई नजरों से देख हीन भावना का शिकार होते हैं। असमानता यह परिस्थिति है, जिसमें एक तरफ खाते-पीते-अधाते बच्चे, महिलाएं और बुजुर्ग हैं, तो दूसरी तरफ वो बच्चे, महिलाएँ और बुजुर्ग हैं, जो दो जून की रोटी के लिए भी तरसते हैं। इस स्थिति का वर्णन करते हुए मिश्र जी लिखते हैं कि- **"सोचता है जिस हिंदुस्तान में नई सदी की दहलीज पर वह दुनिया भी पैर रखने जा रही है, जहाँ आदमी गरीबी की रेखा के नीचे जीने को विवश है। चमक-दमक वाले हिंदुस्तान के भीतर यह जो दूसरा हिंदुस्तान है जहाँ स्वास्थ्य, शिक्षा, पीने के पानी तक से आदमी वंचित है, जिसके पास स्वाद और स्वास्थ्य के उत्तमोत्तम पदार्थों की बात क्या, दो जून खाने और बच्चों को खिला पाने लायक अनन नहीं हैं, जहाँ आए दिन अभाव के चलते माँ-बाप को अपने बेटे-बेटी बेचने को विवश होना पडता है। (कालाहांडी उडीसा की प्रसिद्ध घटना), वहाँ बच्चों की नियति है कुपोषण, अभाव, अभिशाप। वहाँ का सरकार का यह दावा कि उसने गाँव-गाँव, गली-गली टीवी पहुंचा दिया है, लोगों के मनोरंजनार्थ, एक निहायत अश्लील और भद्दी मानसिकता, निहायत अश्लील और भद्दे अचरण के सिवा और क्या है? यह इस विराट जनमानस को दी जाने वाली एक भद्दी गाली है।"** [१०]

जिस प्रकार रचनाकार अपनी रचनाओं को अपने समकालीन प्रश्नों से अलग करके नहीं रख सकता उसी प्रकार आलोचक भी आलोचना को सामाजिक एवं साहित्यिक मुद्दों से जोडकर रखता है। मिश्र जी ने आलोचना में स्त्री शोषण पर अपने विचार उदाहरण सह स्पष्ट करते हुए लिखा है कि द्रोपदी के विवाह से लेकर उसके अर्जुन राहित सभी पांडवों के साथ पर तक साथ आने और आने के बाद तक वह क्या करेगी, किसके साथ रहेगी वह सभी बात द्रोपदी

के हाथ में न होते हुए किसी और के हाथ में है। स्वयंवर में दोपदी को जीतने के बाद जब पांडव पर आते है जो अपनी माता कृती से बोलते हैं कि **"माँ आज यह भिक्षा मिली है। तब कृती फुटीर के भीतर थी। कुछ न देखकर ही पुत्रों से बोली, तुम सब मिलकर भोगो।"**[११] इसके बावजूद द्रोपदी पांचों भाईयों की पत्नी के रूप में रहती है। एक बार द्रोपदी से यह नहीं पूछा जा सकता है कि वह क्या चाहती है? मित्र जी कहते है कि- द्रोपदी, **"जिसके मन पर अब तक केवल अर्जुन का बिंव था, इस व्यवस्था को धर्म की रक्षा के नाते स्वीकार करने को विवश होती है। आजीवन वह पांच पतियों के साथ अपने पत्नी धर्म का निर्वाह करती है।"**[१२] लडकियों को यह सिखाया जाता है कि उसमें लज्जा होनी चाहिए, पतिव्रत धर्म का पालन करना चाहिए। सामान्यतया इस प्रकार के नियमों का अनुपालन करती है उसे यश मिलता है। महाभारत की गांधारी अपने पति के अंधेपन के कारण आजीवन खुद के आँख पर भी पट्टी बांधे रहती है। लोग उस कार्य के लिए गांधारी की प्रशंसा करता है, साथ ही साथ उसे अपार यश भी प्राप्त होता है। इस अनुसंधान में मिश्र जी लिखते- **"वैवाहिक जीवन को निष्कलंक बनाए रखने और पतिव्रत पर कायम रहने की शर्त महज स्त्री के लिए है। एक पति, वह कैसा भी हो, मन, वचन, और कर्म से उसके प्रति संपूर्ण समर्पण ही नारी का धर्म है, इसी में उसकी गती है। उस पथ से विपथित नारी को धर्म को धर्म शास्त्रों में कठोर शब्दों में याद किया गया है। उसे भयानक दुष्फल भोगने की चेतावनी भी दी गई है।"**[१३]

मिश्र जी ने शास्त्रों की इस बात का विरोध किया है, कि पतिव्रत पर कायम रहने की शर्त सिर्फ स्त्रियों के लिए है? भारतीय साहित्य के नवजागरण काल में स्त्री मुक्ति का प्रश्न बहुत ही मुखर होकर उभरा फिर भी उसमें स्त्रियों की भागीदारी बहुत ही कम थी। पुरुष वर्ग स्त्री-मुक्ति का प्रश्न उठा रहा था फिर भी स्त्री-मुक्ति का वास्तविक प्रश्न एवं उनकी वास्तविक पीडा पर एक पर्दा जरूर चढ़ा हुआ था। आगे मिश्र जी लिखते है कि **"नवजागरण से शुरु हुए हिंदी साहित्य पर निगाह डाले तो भारतेंदु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला यहाँ तक कि प्रेमचंद तक में नारी प्रधानतः करुणा को ही पा सकी है। अपवाद है तो महादेवी वर्मा जिनके गद्य में नारी एक बार फिर अपने वजूद से जुड़े हुए दहकते-सुलगते सवाल उठाती है, किंतु पुरुष प्रभुता वाले रामाज में पुरुष के स्वरों के आगे नारी का अपना स्वर दबा ही रहा है।"**[१४]

फ्रेंच लेखिका सिमोन द बोउवार की पुस्तक 'The Second Sex' जिसका प्रकाशन वर्ष सन् १९४९ में हुआ था और माना जाता है कि स्त्री विमर्श की शुरुआती सैद्धांतिक पुस्तकों में इसका प्रभाव अधिकत्तर प्राप्त होता है। छायावादी कवयित्रि महादेवी वर्मा ने सिमोन द बोडवार से छः साल पूर्व ही सन १९४२ में 'श्रृंखला की कड़ियाँ' नामक रचना लिखि थी। जिसमें भारतीय स्त्री वर्ग को चित्रित किया गया था। महादेवी वर्मा यह चाहती हैं कि स्त्रियाँ

यह समझे कि उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। यह समझकर ही वह अपने मुक्ति का रास्ता ढूंढ सकती है। महादेवी लिखती है कि **"इस समय हमारे समाज में केवल दो प्रकार की स्त्रियाँ मिलेंगी। एक वे जिन्हें इसका ज्ञान ही नहीं है कि वे भी एक विस्तृत मानव समुदाय की सदस्य है और उनका भी एक ऐसा स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जिसके विकास से समाज का उत्कर्ष और संकीर्णता से अपकर्ष संभव है, दूसरी वे जो पुरुषों की समता करने के लिए उन्ही के दृष्टिकोण से संसार देखने में, उन्हीं के गुणावगुणों का अनुकरण करने में जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति समझती है।"**[१५]

अंतः आलोचना में आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य के बड़े आलोचक हैं। देखा जाये तो कई जगह पर शुक्ल जी भी अपने पूर्वग्रहों के कारण सही आलोचना नहीं कर पाए हैं, जिसके कारण कबीर और सूरदास जैसे कवि को वो न्याय नहीं दे पाये। आलोचकों ने इस बात की बखूबी पहचान करायी कि काव्यालोचना के संदर्भ में शुक्ल जी के मानक कवि तुलसीदास है। दूसरे कवियों के मूल्यांकन के समय भी उनके सामने तुलसी ही मानक के रुप में उपस्थित रहते हैं। इस पूर्वाग्रह के कारण उनकी समीक्षा में कई जगह दोष आ गए हैं। शिवकुमार मिश्र ने शुक्ल जी के इस पूर्वाग्रह पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि **"शुक्ल जी ने सूर की कविता की सहृदयता से समीक्षा की है। उनके नाते सूर बडे कवि हैं। किन्तु जहाँ उनके पूर्वाग्रह प्रबल हुए हैं, उनकी समीक्षा दृष्टि मुक्त न होकर बद्ध हो गई हैं। शुक्ल जी ने 'कविता क्या है?' निबंध में हृदय की मुक्तावस्था और बद्धावस्था की चर्चा की है। शुक्ल जी अपनी समीक्षा में इसी प्रकार मुक्त और बद्ध हुए हैं। जहाँ मुक्त हैं, हमारे सबसे समर्थ समीक्षक के रुप में उभरे हैं, जहाँ पूर्वाग्रहों से बद्ध हुए हैं, अपनी सीमा निर्देशित करते हैं।"**[१६] कुल मिलाकर देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि मिश्र जी की भाषा शैली अपनी पूरी क्षमता और सामर्थ्य के साथ आलोचना में जमी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. से० मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, पृ० १५
२. सं शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवाद देवमूर्णियाँ नही गढ़ता, पृ० १४४
३. वही, पृ० १३९
४. वही, पृ० १४२
५. वही, पृ० १४२
६. शिवकुमार मिश्र, साहित्य : इतिहास और संस्कृक्ति, पृ० ४२-४३
७. वही, पृ० ५०-५१
८. वही, पृ० ११९-१२०
९. वही, पृ० १२०
१०. वही, पृ० १२१-१२२

११. सं शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवाद देवमूर्तियाँ नही गढ़ता, पृ० १४८
१२. वही, पृ० १४८
१३. वही, पृ० १५१
१४. वही, पृ० १५३
१५. सं महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कडियाँ, पृ० १४
१६. सं शिवकुमार मिश्र, भक्ति-आंदोलन और भक्ति-काव्य, पृ० १६०

-देसाई सी०एम० आर्ट्स एंड कामर्स कॉलेज
तहसील-विरमगाम, जनपद-अहमदाबाद-३८२१५०
Spbaria980@gmail-com
मो०: ६३५५६६४८६५

'आज के अतीत' आत्मकथा में झांकता भीष्म साहनी का व्यक्तित्व

–प्रीति शर्मा

साहित्य समाज का दर्पण होता है, साहित्य और समाज का अटूट संबंध है, जो व्यक्ति को उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य से साक्षात्कार करवाता है। मनुष्य को सोचने, समझने की क्षमता देने में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अच्छा साहित्य मनुष्य की उन्नति और विकास में सदैव सहायक होता है। साहित्य के माध्यम से व्यक्ति संस्कृति, समाज और जीवन-मूल्यों के बारे में सीखता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कहा है-''प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।.....जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।''[१] व्यक्ति के पास अपने अनुभवों तथा विचारों को व्यक्त करने का महत्वपूर्ण साधन साहित्य है।

हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में प्रमुख साहित्यकार, भीष्म साहनी ने अपने जीवन काल में विभिन्न रचनाएं लिखी। १९४७ के विभाजन में वह भारत आकर बस गए। उन्होंने विभाजन की त्रासदी को, धर्म की सांम्प्रदायिकता को अपनी आंखो से देखा और इसी अनुभूति का वर्णन उन्होंने उपन्यासों, कहानियों, नाटकों में चित्रित किया। 'आज के अतीत' आत्मकथा में उनका बचपन, परिवार, स्वभाव, दाम्पत्य जीवन, व्यवसाय आदि रूपों का वर्णन मिलता है। ''वह सदा सहज और सुगम कहानीपन के पक्षपाती रहे है, रचना में भी और विचारों में भी। उनकी कहानियाँ सहज रूप से पाठकों तक पहुँचती है उनको उलझाती नहीं।''[२]

गद्येतर साहित्य में 'रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी, आत्मकथा आदि विधाएं आती हैं।''[३] यद्यपि इन्हें गद्येतर या गौण विधाएं कहा गया है परन्तु यदि गणनात्मक और गुणात्मक दृष्टि से देखा जाए तो यह सभी विधाएं आज गद्य की मुख्य धाराएं ही सिद्ध होती हैं। ''साहित्य की जो विधाएं जीवन की आलोचना' का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं, उनमें आत्मकथा का स्थान सर्वोपरि है। साहित्य की अन्य विधाओं में जीवन की आलोचना के अतिरिक्त भी बहुत कुछ होता है, जबकि आत्मकथा में जीये हुए जीवन का, भोगे हुए क्षणों का, झेले हुए सुख-दुखों का

और आदि दैविक, आधि-भौतिक और आध्यात्मिक सुख-दुखों का सच्चा लेखा-जोखा आत्मकथा लेखक, अपने समग्र जीवन के पुनःरीक्षण के रूप में प्रस्तुत करता है।''[४]

वर्तमान समाज में आज विविध क्षेत्रों में आत्मकथाएँ लिखी जा रही हैं। वह क्षेत्र जैसे : राजनीतिक, सामाजिक, फिल्मी, सांस्कृतिक, साहित्यिक इत्यादि। आत्मकथा एक ऐसा माध्यम है जो लेखक के निजी जीवन को समझने में सशक्त महत्वपूर्ण है क्योंकि आत्मकथा में व्यक्ति के निजी जीवन, पारिवारिक जीवन, दाम्पत्य जीवन, उतार-चढ़ाव, वातावरण, परिवेश, घटनाओं, उपलब्धियों आदि का वर्णन निहित रहता है इन सब कारणों से लेखक के जीवन को समझना अति सरल हो जाता है। ''आत्मकथा'' आत्मबयानी के माध्यम से अपने जीवन की भोगी हुई वह सच्ची दासतां है, जो आत्मनिरीक्षण, आत्मकथा एवं आत्मज्ञान के उद्देश्य से लिखी जाती है। आत्मकथा का शाब्दिक अर्थ ही है-अपनी कहानी या अपने जीवन की कहानी।''[५] ''आत्मकथा की एक स्वभाविक आधारभूत परिभाषा यही हो सकती है कि उसमें व्यक्ति समूचे समाज और समय के संदर्भ में रखकर अपने शब्द और कर्म, अपनी वैचारिकता और व्यक्तित्व की गहन और पारदर्शी पड़ताल करने की रचनात्मक कोशिश करता है।''[६]

इस प्रकार आत्मकथा में रचनाकार के व्यक्तित्व के साथ-साथ उसके पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक परिवेश का वर्णन निहित रहता है जिसमें वह पल्लवित-पोषित होता है। इस विधा के माध्यम से लेखक के जीवन की जटिलताओं, अंतद्वन्द्व, संघर्षों को समझा जा सकता हैं। हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा में भीष्म साहनी एक सशक्त लेखक है। इनके साहित्य में आज़ादी के समय का यथार्थ चित्रण, जीवन रूपी सिद्धांतों का, व्यक्ति के भीतर चलने वाले संघर्षों का मार्मिक चित्रण है। इस प्रकार से साहित्यकार और विचारक के रूप में उनका स्थान उल्लेखनीय है। ''भीष्म साहनी का जन्म रावलपिण्डी (पाकिस्तान) में ८ अगस्त, १९१५ में हुआ। पिता का नाम हरवंसलाल और माता का नाम लक्ष्मी देवी था। मशहूर अभिनेता बलराज साहनी इनके बड़े भाई है।''[७]

व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाला प्रमुख घटक होता है उसका 'परिवार'। व्यक्ति का पारिवारिक जीवन उसके अनेक संस्कारों से युक्त होता है। भीष्म जी अपने पारिवारिक जीवन के बारे में बताते हुए कहते हैं कि परिवार के माध्यम से ही व्यक्ति के भीतर जिजीविषा की भावना रहती है। उनका मानना था कि परिवार में सादगी पर जोर था। आज्ञा का कठोरता से पालन करना पड़ता था। उनकी माँ जिनका नाम लक्ष्मी था वह साक्षात लक्ष्मी ही थीं। वे धार्मिक थीं, सेवा, प्रेम और त्याग की साक्षात् मूर्ति थी। उनकी वात्सल्य और ममतामयी गोद में भीष्म जी का बचपन व्यतीत हुआ। बचपन में उन्हें समझाया जाता कि वह लक्ष्मण और उनके भाई बलराज राम की भांति हैं उन्हें भी भगवान राम और उनके भ्राता लक्ष्मण की भांति

साथ-साथ चलना है। वह एक स्मृति के माध्यम से बताते है कि एक समय की बात है वह अपने भाई बलराज साहनी के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रहे थे तो उनके भाई ने उन्हें पीछे धकेलते हुए कहा कि भीष्म तुम मेरे पीछे-पीछे चलो जैसे लक्ष्मण अपने भाई के साथ चला करते थे। इसी आर्दश परिवार में भीष्म साहनी जी का जीवन सामने आता है।

उनके दाम्पत्य जीवन पर दृष्टि दौड़ाए तो साहनी जी का मानना था कि- ''एक और दृष्टि से भी नाटक की प्रस्तुति निर्णायक सिद्ध हुई नाटक कामयाब हुआ। उसे देखने वालो में शीला भी थी, मेरी भावी-पत्नी वह भी अपने पिता जी के साथ नाटक देखने आई थी।. .....भावी पत्नी के इस भाव से मेरे भावी जीवन का मार्ग बिल्कुल साफ होने लगा।''[८] वह अपने दाम्पत्य परिप्रेक्ष्य में बताते हुए कहते हैं कि वह अपनी पत्नी से विवाह पूर्व मिलना तो दूर न कोई चिट्ठी-पत्री न कोई प्रेमालाप लेकिन अब अफसोस अनुभव करते है कि ऐसा क्यों नहीं हुआ। वह अपने इन सब कारणों को अपने संकोची स्वभाव को दोषी ठहराते है। ''शादी के बाद उनकी पत्नी शीला को अक्सर उनकी शिकायत रहती थी.....अपनी ओर से मैं सफ़ाई देता, तुमसे क्या बात करता मुझे दूर से ही आता देखकर तुम्हारा चेहरा लाल हो जाता था.....तुमसे क्या बात करता।''[९] उन्होंने आजीवन स्वभाव की विपरीतता का अनुभव कर व्यक्तित्व में मिलने वाली शिकायतों को भी स्पष्ट किया है कि एक साथ घूमने-फिरने की कमी जो विवाह से पहले अधूरी रही उसे वह विवाह के बाद पूरा करने की कोशिश अपने ढंग से कुछ इस तरह करते हैं। ''गर्मी के मौसम में हम लोग श्रीनगर चले जाते थे। कश्मीर तो बना ही सैर-सपाटे के लिए है। हनीमून मनाने के लिए कश्मीर से बेहतर सैरगाह कौन सी होगी?''[१०]

उन्होंने अपने परिवार के साथ-साथ अपने सभी नाट्यकर्मियों के सहयोग की भावना का विश्लेषण भी किया है। 'आज के अतीत' आत्मकथा में उस समय के समाज का चित्रण भी मिलता है इस कथा से उन्होंने रावलपिंडी शहर और उस समाज के लोगों का चित्रण भी किया है। ''रावलपिंडी के शहर की मानसिकता में पाई जाने वाली ऐंठ का एक और कारण यह भी था। रावलपिंडी दो शहरों के बीच लटका हुआ शहर था-एक ओर लाहौर, दूसरी और पेशावर। दोनों के बीच में रावलपिंडी। पेशावर के लोग पुरानी वज़ह के थे, जबकि लाहौर नई रोशनी का शहर था। पेशावर के लोग पठान माने जाते अर्थात् मरने-मारने पर उतारू..... .इसके विपरीत लाहौर के लोग दुबले-पतले, आँखों पर चश्मा लगाने वाले, दिमाग़ के तेज, बुद्धिजीवी और स्वार्थी माने जाते थे।''[११] साहनी जी ने उस समय के समाज का वर्णन करते हुए उन्होंने पंजाबी शहरों, गाँव, पंजाबी घरो की, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, पंजाबी लोगों की आजीविका व जीवन जीने के ढंग का और उस समय में लोकप्रिय प्रेमगीतों के बारे में बताते हुए कहते हैं उस समय प्रेम, गीतों में एक गीत बड़ा लोकप्रिय हुआ करता था।

"सुए वे चीड़े वालिया, मैं कहनी आँ
कर छतरी दी छाँह, मैं छांवे बहनी आँ।"[१२]

उन्होंने लोकगीतों के साथ-साथ उस समय के समाज पंजाबी शहर का वर्णन भी किया हैं। वह अपनी पढ़ाई के लिए लाहौर गए उन्हें अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. के लिए लाहौर जाना था वह वहां जाकर घोर निराशा अनुभव करते हैं। उनके अन्तर्मन में रावलपिंडी और लाहौर की तुलना प्रारंभ हो जाती है। वह कहते है-"लाहौर पहुंचने पर पहले तो घोर निराशा हुई। कहाँ रावलपिंडी का मेरा दिलफ़रेब वतन और कहां लाहौर, सपाट-सा शहर जिसका ओर-छोर ही कहीं नज़र न आए।.....वह शहर ही क्या जिसके क्षितिज पर पहाड़ न हो, जो हर घड़ी रंग बदले। रावलपिंडी में साइकिल पर पाँव रखो और मिनटों में सारा शहर घूम आओ।"[१३] वह अपने शहर में बरसों रहने के बाद उसके माहौल को इतना याद कर रहे है कि लाहौर जैसे शहर में पहुँचकर भी उखड़ा-उखड़ा महसूस कर रहे, बात-बात पर उन्हें अपने शहर पिंडी की याद आती है। लाहौर के टाँगें भी मुझे बेसीदा लगे, उनके आगे जुते हुए घोड़े मरियल, उनके बदन पर फटे-पुराने साज़। मेरे शहर का टाँगा कभी झोल नहीं खाता था,..... गाड़ीवान चुस्त-दुरूस्त, लगाम झटकते ही दुलार से कहता-"चल मेरी बुलबुल!" और गाने गुनगनाने लगता। उसके मुकाबले में लाहौर के गाड़ीवान खूसट,....ओर हाज़िरजबाव, पर ताँगा चलाते समय लगता सोए-सोए ताँगा चला रहे हैं।"[१४] इस तरह के उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी आत्मकथा में लाहौर और रावलपिंडी शहरों की तुलना भी की हैं।

भीष्म साहनी ने अपनी आत्मकथा में जहां पंजाबी शहरों, गांवों का वर्णन किया है वही पंजाबी लोगों के रईसी दिखावे का वर्णन भी किया है वह आत्मकथा में कहते हैं-"हमारा पड़ोसी बोस्तानख़ान पुरानी वज़ह का रईस था। वह विरले ही कभी सड़क के किनारे-किनारे चलता, वह रईस क्या जो सड़क के किनारे-किनारे चले। वह सदा सड़क के बीचोबीच चलता। चढ़ी हुई मूँछें, लहराते तुर्रेवाली पग़ड़ी, माँडी लगी सरसराती सलवार, बदन पर कामदार वास्कट, और नीचे पैरो में चमकता, चरमराता जूता-वह जूता क्या जो चरमराता न हो। जिसकी चरमराहट दूर से सुनाई न दे, वरना पता कैसे चले कि कोई रईसज़ादा चला आ रहा है।"[१५] इस तरह से भीष्म साहनी ने अपनी आत्मकथा में पंजाबी जीवन, पंजाबी वातावरण, पंजाबी सांस्कृतिक कार्यक्रम, पंजाबी धार्मिक कार्यक्रम, पंजाबी खेल इत्यादि का वर्णन किया है।

भीष्म साहनी जी के साहित्य सजृन प्ररेणा पर चर्चा करते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावी बनाने में तत्कालीन परिस्थितियों का बड़ा योगदान रहता है। साहनी जी की युवावस्था में तभी आज़ादी का आन्दोलन जोर पकडा रहा था। देश में राजनीतिक हलचल भी। दूसरे विश्वयुद्ध की हवा चल रही थी। देश में सांम्प्रदायिकता का

संकीर्ण वातावरण बनता जा रहा था। इन सब कारण का प्रभाव साहनी जी के व्यक्तित्व पर पड़ा, जो साहित्य के रूप में उभर कर समाज के समक्ष आया।

साहित्य सृजन की प्रेरणा में वह बताते है कि उनके बहनोई श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के साथ उनके घर रहने के साथ-साथ वहां हर दिन हिन्दी साहित्य पर चर्चा रहती। वहां विभिन्न लेखकों का आना जाना रहता था। उन्हीं दिनों वहां वात्स्यायन जी और देवेन्द्र सत्यार्थी से भी उनकी मुलाकात हुई इसके साथ और भी अन्य लेखकों के साथ उनका परिचय होता गया और साहित्य के प्रति उनकी जिज्ञासा बढ़ती गई। वे पढ़ने का बहुत शौक रखते थे। उन्होंने प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, सुदर्शन आदि का साहित्य पढ़ा और उससे वे प्रभावित हुए। इसी कारण से वह इस क्षेत्र की ओर आकर्षित भी हुए। उनके पारिवारिक भीष्म साहनी जैसे महान लेखक पर संस्कारों का अत्याधिक प्रभाव रहा। जिसके परिणामस्वरूप उन्हें साहित्य सृजन की प्रेरणा मिली। सामाजिक विद्रूपताओं, विसंगतियों और अनेक समस्याओं को उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से जीवंत कर दिया।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भीष्म साहनी ने अपनी आत्मकथा में उन ज़मीनी सच्चाइयों का विश्लेषण किया है, जिनसे उनके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। 'आज के अतीत' आत्मकथा से स्पष्ट होता है कि वे मानवतावादी लेखक हैं, उन्होंने मानव को मानव के साथ जोड़ने की कोशिश की और मानव कल्याण की कामना की हैं। भीष्म साहनी ने सांम्प्रदायिकता को गम्भीर समस्या के रूप में चित्रित किया है। उसी के आलोक में सांप्रदायिक सद्भाव की उज्जवल किरण भी भीष्म साहनी की आत्मकथा और साहित्य का सशक्त पक्ष हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, बुलन्दशहर : ज्योति पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स २०१३, पृ-४
२. भीष्म साहनी, आज के अतीत, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, २००३, फ्लैप से
३. कैलाशचन्द्र भाटिया, साहित्य में गद्य की नई विविध विधाएं, नई दिल्ली : तक्षशिला प्रकाशन, १९९६, पृ-५५
४. हरिमोहन, साहित्यिक विधाएं : पुनर्विचार, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, १९९५, पृ-२४४
५. विवेकशंकर, साहित्यशास्त्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर : २०२२, पृ-११५
६. पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, २००३, पृ-१३
७. भीष्म साहनी, आज के अतीत, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, २००३, फ्लैप से
८. वही से, पृ-९९
९. वही से, पृ-११५

१०. वही से, पृ-११८
११. वही से, पृ-६३, ६४
१२. वही से, पृ-६६
१३. वही से, पृ-७३
१४. वही से, पृ-७४
१५. वही से, पृ-६४

-शोध-छात्रा
हिन्दी-विभाग,
गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर
Email: Prittisharma1234@gmail.com
प्रो.(डॉ.) सुधा जितेन्द्र

अनामिका के उपन्यासों में आधी आबादी की संघर्ष

–डॉ० बिजय रवानी

अनामिका स्त्री-विमर्श की प्रबल व्याख्याता, बेहतरीन उपन्यासकार और आलोचक के रूप में सामने आती है। इनके लेखन में गजब की धार है, क्योंकि अनामिका ने जो देखा, सहा, भोगा उसे अपनी कलम से बहुत ही सलीके से समेटा। उनकी स्त्री-विमर्श पर बेबाक और गहन अध्ययन चिन्तन स्त्री-विमर्श को नई दिशा प्रदान करता है। अनामिका की कलम और सोच ने स्त्रियों को एक अलग मुकाम दिया। हर वर्ग, वर्ण, जाति, नस्ल की स्त्री की स्थिति की वह निष्पक्ष जाँच-पड़ताल करती है। स्त्री होने के नाते उनमें स्त्रियों के प्रति संवेदनात्मक लगाव दिखाई देता है। औरत और उनसे जुड़े मुद्दे उनके हमेशा करीब रहे इसीलिए वह स्त्रियों से जुड़े मुद्रों को जमीनी हकीकत के साथ पाठकों के समक्ष रखती है। अनामिका ने लगभग पाँच उपन्यास लिखी है जिनमे ''पर कौन सुनेगा', 'मन कृष्ण मन अर्जुन', 'आवन्तर कथा', 'दस द्वारे का पिंजरा' और 'तिनका तिनके पास है'। ये उनका प्रमुख उपन्यास है।

तिनका तिनके पास- इस उपन्यास में तारा की माँ एक सेक्स वर्कर है। वह अपना जिस्म बेचकर बेटी को पढ़ाती है। परिवार में स्त्री-पुरुष का सहयोग होना जरूरी है, ऐसा न होने पर पति-पत्नी में टकराव, वैमनस्य और आपसी संघर्ष के कारण पारिवारिक विघटन हो जाता है और इसका असर ज्यादातर बच्चों पर ही पड़ता है। बच्चे सदैव अपने माता-पिता के आचरण का अनुगमन करते हैं। अतः परिवार में माता-पिता की भूमिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। तारा की माँ सेक्स वर्कर की काम अपनी इच्छा से नहीं करती, उनके सामने मजबूरी है ताकि वह अपनी बेटी तारा को पढ़ा-लिखा सके, पढ़-लिख कर वह आगे बढ़े और जिन्दगी में कुछ बन पाये- ''मरने से पहले माँ कह गई थी- बेटा, किसी तरह पढ़ लेना। उसका बस चलता तो मुझे पहले ही दिन से हॉस्टल में रखकर पढ़ाती।''[1] तारा की माँ चाहती थी कि पढ़े। कुछ बने। उसकी अपनी जिन्दगी बर्बाद हो गयी। उसकी बेटी पढ़-लिखकर अच्छी अफसर बन जाए तो अपनी बेटी की जिन्दगी तो बच जाएगी।

अनामिका का यह उपन्यास मुक्ति का अर्थ टटोलने की कोशिशों के गर्भ से जन्मा है। उनकी रचना इस अहम् सवाल से जूझती है कि स्त्री की मुक्ति 'सालवेशन' के तर्ज पर होगी या 'लिबरेशन' के तर्ज पर। कथाक्रम मुजफ्फरपुर के सदर अस्पताल और वेश्याओं

के बच्चों के आवासीय स्कूल 'जोगनिया कोठी' से गुजरता हुआ स्त्री-जीवन की कई व्यथित सच्चाइयाँ सामने लाता है। इस कृति का एक पात्र कहता है, 'एक तरफ की कॉल गर्ल हर औरत होती है' इसका जो सन्दर्भ है उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तारा की माँ का सुन्दर कथन है जो सराहनीय हैं- पत्नियाँ न जाने कितने अज्ञात भयों से बचने के लिए डाँट-मार के तुरन्त बाद पति के सामने देह बिछा देती है। फिर छत की शहतीरें गिनती हुई सोचती है कि शरीर के बदले घर की सुखशान्ति तो हासिल कर ली पर मन की वितृष्णा कैसे पोंछी जायेगी। इस उपन्यास की एक अन्य स्त्री-पात्र है, अवन्तिका देवी जिन्होंने मार्क्सवादी सांसद बनकर राजनीति में कामयाबी तो हासिल कर ली है, लेकिन पति के कामरेड बनने की प्रतीक्षा उनके लिए अन्तहीन हो गई है। इस उपन्यास में स्त्री का जो चरित्र उभर कर आया है वह फ्लैशबैक नहीं है बल्कि वर्तमान की आवाजाही है।

दस द्वारे का पिंजरा- परम्परागत वर्जनाओं के प्रति विद्रोह करने वाले उपन्यासों में अनामिका का उपन्यास 'दस द्वारे का पिंजरा' काफी चर्चित रहा। अनामिका ने स्पष्ट इस उपन्यास में लिखा है सीं मुक्ति के बारे में, इस दुनिया में स्त्री की मुक्ति खोजना आकाश और धरती के सांस्कृतिक पुल बनाने से कम मुश्किल नहीं है। लेकिन यह कठिन काम अंजाम दिये बिना दस द्वारे का पिंजरे में रहने वाले सुन्दर पंछी खुले गगन में उड़ने के लिए तैयार नहीं हो सकते।

एक बार ढ़ेलाबाई अपना दर्द बयान करती है- ''मिश्रा जी, मेरी स्थिति जरा भी नहीं बदली। जो पहले थी अभी भी है। रण्डी की बेटी, जिसे कोई कुछ भी कह सकता है, जिसके साथ कभी भी, किसी भी समय दरवाजा धकिया कर घुस सकता है भीतर। सामने पान की दुकान है, कोई खण्डहर की दीवार से फूछकर तो पिक नहीं फेंकता उस पर। मैं हूँ वह दीवार। हर रण्डी वही दीवार है, कोठे पर हो चाहे कोठी में।''[२] स्त्री मुक्ति की छटपटाहट हर स्थान पर दिखायी देती है। ढ़ेलाबाई कहती है- मैं जो पहले थी अभी भी वो ही हूँ। पहले भी मुजरा करती थी, अब भी करती हूँ। फर्क सिर्फ इतना है कि रुपया मेरे हाथ में आता था, अब मुख्तार साहब के हाथ में आता है। पहले पाँव में बस घुँघरू थे, अब मोटी जंजीरें भी हैं, पाबन्दियों की। यहाँ मत जाओ, वहाँ मत जाओ, इससे बोलो, उससे मत बोलो। ये करो, वो मत करो, सुनते-सुनते मेरे दिमाग की नसें तड़कने लगती हैं।''[३] पिंजरे में कैद ढ़ेलाबाई हलवन्त सहाय के साथ रहने के लिए अभिशप्त है इसलिए स्वयं को एक जिन्दा लाश समझती है। खाना इनका दिया खाती हूँ, इसीलिए साँस रोक कर बगल में लेट जाती हूँ। हर रोज उपकाई आती है। मन को यही दिलासा देती हूँ की कर्ज चुका रही हूँ, या किराया खाने-पीने का रहने सहने का। इस उपन्यास में लेखिका स्त्री मुक्ति की माँग करती है। स्त्री मुक्ति से समाज में परिवर्तन लाना चाहती है। एक स्त्री

की नजर से पूरे समाज को रखने और समझने की उनकी अपनी तड़प है। इस उपन्यास की दो नायिकाएँ रमाबाई और ढ़ेलाबाई के माध्यम से सनातनी कुलीनता की चौकठ को तोड़कर अपनी जगह बनाने की कोशिश करती हूँ। पीर जी घसियारे और अफसानाबाई की बेटी मेहरूबाई, मेहरूबाई को जन्म देने के तीसरे दिन बाद स्वयं चल बसी, ढ़ेल की बेटी ठुकरी और ठुमरी की बेटी कानन। पण्डित रमाबाई और ढ़ेलाबाई स्त्री मुक्ति आन्दोलन के साथ क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़कर अपना जीवन सार्थक बनाती है। लोहा सिंह का ऐतिहासिक चरित्र है जो कथावाचक और सूत्रधार का किरदार निभाते हुए उपन्यास की सभी चरित्रों का परिचय करके देता है।

'दस द्वारे का पिंजरा' स्त्री मुक्ति, दलित मुक्ति, देह मुक्ति, वैश्या मुक्ति की संघर्ष गाथा है। रमाबाई विदुषी स्त्री थी और ढ़ेलाबाई वेश्या पुत्री अनपढ़ थी। दोनों का संघर्ष स्त्री मुक्ति का ही है। उपन्यास के अन्त में दोनों पात्र एक ही कार्य के लिए जुड़ जाते हैं। इस उपन्यास की सफलता का कारण है कि दोनों का स्त्री मुक्ति आन्दोलन से जुड़ जाना।

पर कौन सुनेगा– इस उपन्यास में अपने पारिवारिक जीवन से पीड़ित और शोषित नारी का चित्रण हुआ है। उपन्यास की नायिका मीरा है। मीरा की माँ रुनु है। मीरा के पिता जब मीरा पेट में थी तभी उन्हें छोड़कर चले गये थे। कांत लाल और रुनु दोनों का दोस्त था। लाल, रुनु का पति और मीरा के पिता हैं। वह एक क्रान्तिकारी भी था। कान्त अपनी पत्नी उमा और अपने बच्चों से बहुत प्यार करता है। खासकर अपनी बेटी सलोनी से। कान्त सलोनी के पिता ही नहीं थे, दोस्त और हमराज भी थे, बल्कि उससे ज्यादा भी कुछ, मगर क्या यह उन्हें स्वयं नहीं मालूम। यहाँ एक ओर लेखिका ने अपनी बेटी से बहुत प्यार करने वाले, उसे अपनी लेखनी की प्रेरणा बनाने वाले पिता का चित्रण किया है, तो दूसरी ओर गर्भावस्था में ही माँ और बच्चे को छोड़कर भाग जाने वाले पिता का जिक्र भी किया है।

कान्त की बेटी सलोनी की मृत्यु को जाती है फिर भी कान्त मीरा को अपनी बेटी समान प्यार करता है। जब अनाथ मीरा को अपने घर लता है तो कान्त की पत्नी उमा को छोड़कर घर के अन्य सदस्यों को अच्छा नहीं लगता। वे लोग कान्त से झगड़ा करते हैं और मीरा से बातें तक नहीं करते। किसी तरह कान्त उन्हें समझाने लगता है लेकिन वे लोग मानते नहीं। कान्त को उनके व्यवहार से दुःख पहुँचता है। लेकिन ज्यादा दुःख तब पहुँचता है जब कान्त का आत्ममित्र देव इस कारण उनसे बातें करना छोड़ देता है। तब कान्त मीरा के लिए अपने मित्र से भी झगड़ा करता है वह कहता है कि– ''देव इसकी कल्पना मैंने नहीं की थी। मीरा मेरी प्रेरणा है, मेरी पूजा, मेरी मुक्ति का माध्यम। उसकी आँखों में मुझे उस पार के दीप जलते देखे हैं– इस तरह मेरी तपस्या को कीचड़ में मत

घसीटो, कम से कम तुम मत घसीटो। दुनिया में औरत मर्द का सिर्फ एक ही रिश्ता नहीं होता।"[४] मीरा उनकी अपनी बेटी न होने पर भी कान्त मीरा को अपनी पुत्री समान ही प्यार करता है। वास्तव में कान्त को मीरा को अपने घर लाने की और उसकी देखभाल करने की कोई जरूर नहीं थी लेकिन इंसानियत के नाते वह मीरा को अपने घर पनाह देता है।

उपन्यास में उमा का भाई डॉ. सत्यजित मीरा की अवस्था जानकर उस पर तरस खाता है, यहाँ तक की उससे शादी करने के लिए भी तैयार हो जाता है। लेकिन मीरा उसे स्वीकारती नहीं। उपन्यास में कान्त और मीरा का सम्बन्ध पिता-पुत्री के समान है पर समाज इसका नाम कुछ और ही देना चाहता है। आज समाज की मानसिकता ऐसी बन चुकी है कि अगर भाई-बहन एक साथ कहीं जायें तोा लोग उसका नामकरण प्रेमी-प्रेमिका कर देते हैं। पितृसत्तात्मक समाज में यदि कोई पुरुष स्त्री को थोड़ा अधिकार और प्यार देना चाहता है तो उस पुरुष को भी समाज का दंस झेलना पड़ता है। जैसा कि इस उपन्यास में कान्त को समाज का दंश झेलना पड़ता है।

मन कृष्ण, मन अर्जुन- इस उपन्यास की नायिका तरु है, जो पढ़ी लिखी है। शिक्षित होने के नाते वह अपने विवाह के सम्बन्ध में वह अपना मत व्यक्त करती है। उसका विचार है कि- ''मर्द का साया औरतों के लिए बहुत मनहूस होता है, स्वतन्त्र व्यक्तित्व पनपने ही नहीं देते। जिस औरतों को कोटर की छाया में ही सुख मिलता हो, वे करें शादी, जिनके पास अपनी विशिष्ट प्रतिभा है, आर्थिक स्वावलम्बन है- अकेले भी रही तो कौन क्या बिगाड़ लेगा?"[५] शिक्षित नारी अपने अधिकारों के प्रति सजग है। यहाँ तक कि उनमें अकेले जीवन बिताने का भी धैर्य आ जाता है। शिक्षित नारी न केवल अपने बारे में चिन्तित है बल्कि अपने परिवेश, समुदाय और देश के बारे में सोचने लगती है। और उसमें अपने तथा समाज का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने की आकांक्षा बलवती होती है। इस उपन्यास में वसुधा और शिखा सहेलियाँ हैं, वे दोनों पत्राचार के जरिए एक दूसरे से अपने-अपने मन की बातें अभिव्यक्त करती हैं। वसुधा शिखा से कहती है- ''औरत और मर्द में सचमुच अन्तर मूलभूत है न। एक ही परिस्थिति की कैसी दो तरह की प्रतिक्रियाएँ होाती हैं। पुरुष जब सुलगता है तो आसपास सब कुछ जला देता है.... स्त्री सुलग नहीं पाती, सारी ज्वालाएँ पीकर हमेशा-हमोशा के लिए बुझ जाना, बुझकर चुपाचप किसी कोने में इस तरह बिखर जान की राख.....।"[६] स्त्री पुरुष के बीच सहज व्यवहार और एक दूसरे के प्रति सहयोग की भावना होनी चाहिए।

स्त्री की अधिकांश समस्याएँ उसकी देह से उत्पन्न होती हैं। अपने शरीर के प्रति वह अतिरिक्त सावधानी रखती है। यह भी सच है कि समाज व घर में स्त्री-शोषण यानी शारीरिक-शोषण हो रहा है। चाहे वह अपने ही घर में क्यों न हो, वह बलात्कार का

शिकार हो जाती है। अर्थात् अपने शरीर के कारण वह घर-बाहर कहीं भी सुरक्षित नहीं है। इससे मुक्त होने के लिए पुरुष के समान बनना नही, समाज एवं पुरुष की मानसिकता को बदलना है। औरत को मात्र उसके शरीर के आधार पर देखना कहीं भी उचित नहीं। किसी भी स्त्री का आंकलन मात्र उसके शरीर से नहीं हो सका। ''मन कृष्ण, मन अर्जुन' उपन्यास में तरू देह के परे अपनी अस्मिता को बयान करते हुए कहती है- ''त्याग की देवी मैं की नहीं हो सकती। कपड़े की गुड़िया नहीं। मुझसे पूरा सम्मान वही पा सकता है जो मेरा पूरा सम्मान करे। मेरे दिल-दिमाग, मेरे पूरे व्यक्तित्व का कायल....।''[७] पुरुष समाज की इस तरह की सोच को बदलने की ओर लेखिका इशारा करती है। आज स्त्री अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों को चुप-चाप सहने को तैयार नहीं है। वे इसका विरोध करती है।

निष्कर्ष के तौर पर यह कहना अधिक उचित होगा कि अनामिका के उपन्यासों में अपनी अन्दरूनी संवेदना, वचस्व और स्वतन्त्रता पर डाली गई अदृश्य बेड़ियों के खिलाफ उठी स्त्रियों की आवाज ही स्त्री प्रतिरोध का सार है। स्त्री की पहचान का संकट और अपनी पहचान का संकट और अपनी पहचान के लिए किये गये प्रतिरोध अनामिका के स्त्री, लेखन का प्रमुख मुद्दा है। अनामिका अपनी उपन्यासों द्वारा यह याद दिलाती रही है कि नारी चेतना की असली लड़ाई स्त्री के स्वभाव, संस्कार व प्रकृति विषय में अपने भीतर घर किये हुए सामन्ती मनोवृत्तियों एवं समीकरणों से है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. अनामिका, तिनका तिनके पास, पृ० ४८
२. अनामिका, दस द्वारे का पिंजरा, पृ० २०६
३. वही, पृ० २०६
४. अनामिका, पर कौन सुनेगा, पृ० ११०
५. अनामिका, मन कृष्ण, मन अर्जुन, पृ० ७०
६. वही, पृ० ८२
७. वही, पृ० ६५

-विभागाध्यक्ष
महाराजा श्रीशचन्द्र कॉलेज
२०, रामकांतो बॉस स्ट्रीट
कोलकाता-७००००३

महादेवी वर्मा के साहित्य में अभिव्यक्त स्त्री चेतना और वर्तमान स्त्री विमर्श

–प्रिया दूबे

स्त्री विमर्श का अर्थ है- स्त्री की स्थिति पर सोच-विचार करना अर्थात् स्त्रियों द्वारा अपने अधिकारों के लिए किया गया आन्दोलन ही स्त्री विमर्श के रूप में दिखायी देता है, जिसमें स्त्री अस्मिता को केन्द्र में रखकर संगठित रूप से स्त्री साहित्य की रचना हुई। जहाँ वैदिक काल में नारियों को माता, देवी, आदि नाम से पुकारा जाता था, स्त्रियों को समान रूप से अधिकार प्राप्त थे पूजा, यज्ञ अनेक धार्मिक कार्यों में पुरुषों के साथ समान रूप से भाग लेती थी, मनु स्मृति में नारियों के बारे में कहा भी गया है-

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते,
रमन्ते तत्र देवताः"

वही उत्तर वैदिक काल तक आते-आते स्त्रियों की दशा दयनीय होती दिखायी देने लगी, पुरुषवादी मानसिकता हावी होने लगी, जहाँ नारियों को देवी स्वरूप माना जाता रहा, वहीं अब भोग-विलास की वस्तु समझा जाने लगा।

अगर स्त्रियों की स्थिति हिन्दी साहित्य जगत् में देखा जाये तो सिद्ध, नाथ, कबीरदास तक नारी की दशा दयनीय ही दिखायी देती रही। कबीरदास ने यहाँ तक कह दिया कि-

"नारी की झाई पड़त, अंधा होत भुजंग।
कबीरा तिनकी कौन गति, जो नित नारी को संग।।" [२]

उन्हीं के कोख से जन्म लेकर उन्हीं के विषय में ऐसी अपशब्द पूर्ण बात करना नारी जगत् के लिए लज्जा की बात है। स्त्री मुक्ति का प्रश्न सबे पहले मध्यकाल में मीराबाई के द्वारा दिखाई पड़ता है वे अपने विद्रोही प्रवृत्ति के कारण तत्कालीन समाज की सामन्तवादी व्यवस्था को एक झटके में तोड़ देती हैं एवं संन्यासियों के साथ में बैठकर अपने प्रियतम गिरधर गोपाल के नाम का कीर्तन करती हैं परन्तु समाज ने मीरा को दोहरेपन से स्वयं को एवं तत्कालीन समय की स्त्रियों को मुक्त करने की चेष्टा की। वे लिखती हैं कि-

"राणा मुझे यह बदनामी, लगे
मीठी।

कोई निंदों कोई बिंदों, मैं तो चलूँ
चाल अनूठी।''।[३]

उन्हीं की भाँति आधुनिक युग की मीरा कही जाने वाली महादेवी को भी स्त्री चिन्तन के रूप में ख्याति विलम्ब से मिली आधुनिक काल में स्त्री विमर्श की शुरुआत महादेवी वर्मा के 'श्रृंखला की कड़ियाँ (१९४२)' निबन्ध से माना जाता है जिसमें उन्होंने नारियों के दुख, दर्द एवं परेशानी को सहज भाव से समझा एवं मरते दम तक स्त्रियों के पक्ष में लड़ती एवं विरोध करती रही। पश्चिम में स्त्री विमर्श की शुरुआत 'सीमोन द वोउआर' की पुस्तक 'द सेकण्ड सेक्स' (१९४९) और जर्मन ग्रेयर की किताबों से जोड़ा जाता है 'सीमोन पैदा नहीं होती बनायी जाती हैं।

प्रेमचन्द से लेकर आज तक अनेक पुरुष लेखक ने स्त्री समस्या को अपना विषय बनाया लेकिन उस स्वरूप में नहीं लिखा जिस रूप में स्वयं महिला लेखिकाओं ने लिखा क्योंकि एक महिला ही एक महिला के दुख-दर्द एवं पीड़ा को समझ सकती है। वर्तमान कालीन महिला लेखिकाओं में उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, शिवानी, आदि ने नारी मन के अन्तर्द्वन्द्वों एवं आपबीती घटनाओं को उकेरना शुरू किया। कृष्ण दत्त पालीवाल वर्तमान स्त्री के सम्बन्धों में लिखा है कि- ''आधुनिक भौतिकवाद प्रधान युग ने नारी को श्रद्धा का पात्र नहीं बनाया, संसार उसके सामने नतमस्तक नहीं होता, उसे विषाद और विस्मय में से देखा जा रहा है नारी के अपने व्यक्तित्व महिमा का क्षरण हुआ है वह एकाकी हो रही है और पुरुषोचित स्वभाव धारण करने से भटकाव की स्थिति में है उसे वह विस्तृत स्वाधीनता नहीं मिली जो उसका उत्कर्ष करती।''४

महादेवी वर्मा के साहित्य में अभिव्यक्त स्थिति चेतना का तब तक ठीक-ठाक अध्ययन नहीं किया सकता, जब तक उनकी सम्पूर्ण साहित्य को वर्तमान की दृष्टि से समझ नहीं लेते, यूरोपीय पुनर्जागरण एवं भारतीय नवजागरण के आन्दोलनों के पश्चात् सभी की नवीन दृष्टि एवं स्त्री की नवीन छवि तटस्थ रूप से उभर कर सामने आयी, इसी सम्पूर्ण प्रक्रिया में महादेवी की स्त्रीचेतना भी सम्मिलित रूप से दिखाई देती है। २०वीं शताब्दी में महादेवी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में स्त्री-चिन्तन सम्बन्धी रूप दिखाई दिया।

स्त्री को परिवार का केन्द्र मानने के बावजूद भी उसके साथ दोहरे दर्जो का व्यवहार किया जाता था, कभी धर्म, कभी समाज, कभी संस्कृति, कभी परम्परा के नाम पर शारीरिक, मानसिक तथा भावात्मक, शोषण भूतकाल से लेकर वर्तमान में, आज भी दिखाई देता है महादेवी जी अन्तर्मन में स्त्री विषयक चिन्तन बाल्यपन से ही अंकुरित हो चुका था जब उन्हीं के नौकर ने अपनी गर्भवती पत्नी को बहुत मारा पीटा, वह रोती हुई महादेवी के समक्ष आई

महादेवी जी नौकर को डाँट फटकार लगाई और माँ से कहने लगी- ''हाय कितना पीटा यह क्यों नहीं पीटती, माँ ने उत्तर दिया आदमी मारे तो औरत कैसे हाथ उठा सकती हैं।''[५] शायद महादेवी जी के अन्तर्मन में यहीं से स्त्री के पराधीनता और अभिशप्त नारीअस्तित्व की वेदना की कसक टीस रही थी वे कोई समाज सुधारक नहीं थी एक सुव्यवस्थित स्त्री चिन्तन के रूप में सामने आती हैं हमारा समाज सदियों से ही स्त्री के पराधीनता और अभिशप्त नारी अस्तित्व की वेदना की कसक टीक रही थी वे कोई समाज सुधारक नहीं थी एक सुव्यवस्थित स्त्री चिन्तन के रूप में सामने आती है हमारा समाज सदियों से ही स्त्री का शोषण करता आ रहा है एवं उसकी अस्मिता से खेलता आ रहा है। पितृसत्तात्मक सोच स्त्रियों के दयनीय दशा का सबसे बड़ा कारण है महादेवी का सम्पूर्ण साहित्य स्त्री जागरण के रूप में दिखाई देता है सुधा सिंह लिखती हैं कि- ''महादेवी वर्मा न तो सामंजस्यवादी हैं और न ही समन्वयवादी ही हैं बल्कि स्त्रीवादी हैं।''[६]

'श्रृंखला की कड़ियाँ'' गद्य निबन्ध में महादेवी ने भारीय नारी के विषम परिस्थियो को अनेक दृष्टियों से देखने की कोशिश की हैं अन्याय के प्रति उनका स्वभाव उग्र था नारी के दयनीय दशा एवं विभिषिका से पूरी तरह द्रवित थी, भारतीय पुरुष नारियों को अपनी वस्तु समझ कर उस पर अत्याचार करके उसे पूरी तरह से दयनीय बना दिया है वह कहती हैं कि- ''इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है उपयोग के लिए गाय या घोड़ा पाल लेता है उसी प्रकार वह स्त्री को भी पालता है तथा अपने पालित पशु-पक्षियों के समान ही यह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है।''[७]

महादेवी जी ने स्त्री जीवन के उन अभिशापों का भी उद्‌घाटन किया जिन्होंने नारी जाति को परम्परा से कलंकित बना रखा है साथ ही साथ इस समस्या से कैसे मुक्ति मिल सकती है उसके साधनों का भी सुझाव दिया, एक विचारक की भाँति भारतीय नारी की विषम परिस्थितियों को अनेक दृष्टिकोण से देखने और समझने का प्रयास किया, देवी जी ने कन्धे से कन्धा मिलाकर उन पर होने वाले अत्याचारों का जमकर विरोध किया एवं स्त्री सशक्तिकरण का एक नया आयाम दिखाया, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कार्यक्रमों में पुरुषों के भागीदारी के साथ-साथ स्त्रियों के भागीदार होने की अवसर प्रदान किया। उनका कहना है कि- 'समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है अतः अधिकार के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी भी होना चाहिए सामान्यतः भारतीय नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा कहीं उसमें साधारण दयनीयता है और कहीं साधारण विद्रोह परन्तु सन्तुलन से उसका जीवन परिचित नहीं।''[८]

महादेवी ने अपने गद्यों में ही नहीं बल्कि अपने काव्यों के माध्यम से भी स्त्री अस्तित्व की पहचान एवं मुक्ति का संघर्ष बिम्बों के माध्यम से करती हुई दिखाई देती हैं उनका कहना है कि स्त्री स्वयं में शक्ति है जिसको न तो पुरुष की बेड़ियाँ बाँध सकती है न तो नदी की धाराएँ रोक सकती हैं और न ही समुद्र की तरंगे और वेगप्रवाह से उनके मार्ग को अवरुद्ध कर सकता है। स्त्री के अस्तित्व को जगाते हुए महादेवी कहती हैं कि-

"बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले
पथ की बड़ा बनेंगे तितलियों के पर रंगीले,
विश्व क्रन्दन भुला देगी मधुप की मथुर गुन गुन,
क्या डुबो देंगे तुझे यह फूल के दल ओस गीले?
तू न अपनी छाह को अपने लिए कारा बनाना,
जाग तुझको दूर जाना।" [८]

साहित्य में स्त्री विमर्श सदियों से चली आ रही पितृसत्तात्मकता को तोड़ने का उपक्रम है जिसमें स्त्री की स्वतन्त्रता को पहचानने और स्वीकारने पर जोर दिया गया है सदियों से बेदखल नारी के मानवीय अधिकारों की पुनः प्राप्ति का वैचारिक संघर्ष है। बताया जाता है कि नारी अपने आँसू को व्यर्थ नहीं होने देती उन आँसुओं से नये सृजन का निर्माण करती है, कहा भी जाता है कि औरत जितना रोती है उतना ही औरत बनती है, इन्हीं स्त्री चेतना से जुड़े प्रश्नों पर विचार महादेवी वर्मा द्वारा किया गया है।

"मैं नीर भरी दुःख की बदली,
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी थी कल मिट आज चली।" [१०]

महीषही महादेवी आर्थिक सशक्तिकरण एवं स्त्री शिक्षा-दीक्षा के विषय में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है 'चाँद' पत्रिका में छपी नारी आन्दोलन से वे जुड़ी थी वे नारियों के प्रति पुरुष समाज का रवैया देखकर चिन्तित होती हैं, अतः स्त्रियों को उसके अधिकारों को लेकर सचेत करती हुई उनके पक्ष में खड़ी रहती है उनके रेखाचित्रों में अपेक्षित, पीड़ित निःसहाय पात्र भक्तिन, लक्षमा, बीवियाँ, बिट्टू जैसी स्त्रियाँ हैं जिनके माध्यम से उन्होंने समाज को एक नया आईना दिखाया है, महादेवी आधुनिक सोच रखने वाली भारतीय महिला है जो परम्परावादी रूढ़ियों को तोड़ देना जाती हैं। भारतीय परिवारों की सोच लिंग विरोध है वहीं पुरुष को मान-सम्मान एवं अधिकार का दर्जा दिया जाता है और वहीं स्त्रियों को हीनभावना से देखा

एवं समझा जाता है इसलिए स्त्रियों को स्वयं की स्वतन्त्रता एवं स्वाभिमान के लिए जागृत होना परम आवश्यक है वह मानती है कि जिस दिन स्त्री अपनी शक्ति को स्वयं पहचान लेगी उसकी प्राणवेग गति रोकी नहीं जा सकेगी। उसके सामने पितृ अनुशासन की दीवारें, जंजीरें एवं श्रृंखलाएँ नहीं होंगी, वह पूर्ण रूप से स्वाधीन होकर समाज के कार्यों में अपनी सहभागिता का योगदान दे सकेंगी कहती हैं कि- ''हमें न किसी पर जय करना चाहिए, न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व केवल अपना वह स्थान वे स्वत्व चाहिए, जिसका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी, हमारी जागृत और साधन सम्पन्न बहने इस दिशा में विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकेंगी।''[११]

महादेवी विवाह जैसी प्रथा को पवित्र एवं उच्च कोटि की मानती हैं परन्तु पवित्र मानी जाने वाली विवाह संस्था में सदियों से रूढ़ियों के माध्यम से पतन हो रहा है जिसके परिणाम स्वरूप विवाह के समय मुस्कुराती, खिलखिलाती एवं गुलाब की तरह खिली बालिका विवाह के कुछ वर्षों के पश्चात् ही प्रौढ़ा एवं दुर्बल बच्चों की जननी के रूप में दिखाई देने लगती हैं इससे द्रवित होकर महादेवी विवाह संस्था पर प्रश्नचिन्ह भी लगाती है इस प्रकार देवी जी ने भारतीय स्त्री जीवन के अंश में अनदेखे पहलुओं पर प्रकाश डाली वे नारी चेतना की भारतीय परम्परा पर विचार विमर्श करने वाली अद्वितीय विचारक रही हैं उनका कहना है कि ''दुध मुहे बालकों को आँचल की छाया में छुपाए बड़ों को वात्सल्य से आर्द्र करती हुई माताएँ तथा आने वाली आपत्ति की आहट सुनकर मुरझाई हुई स्नेहमयी पत्नियाँ क्या सोच रही हैं।''[१२]

वास्तव में महादेवी जी का व्यक्तित्व, कृतित्व एवं रचना संसार, स्त्री पक्ष के बहुआयामी एवं उत्प्रेरक की भूमिका से सम्पन्न है हिन्दी में वर्तमान स्त्री विमर्श लगभग २०वीं शताब्दी के अन्त में और ही अधिक जोर-शोर से दिखाई पड़ा, अनेक लेखिकाएँ उसमें शामिल हुइ, हिन्दी में नारी वादी विमर्श की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें इस प्रकार हैं, स्त्री विमर्शः समाज और साहित्य (क्षमा शर्मा), स्त्री घोष (कुमुद शर्मा), औरत के लिए औरत (नासिरा शर्मा), उपनिवेश में स्त्री (प्रभा खेतान), हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास (सुमन राजे) इत्यादि।

वर्तमान युग की नारी अब जागृत हो चुकी है स्वयं की शक्ति एवं समथ को पहचानने लगी है, परन्तु वर्तमान कालीन समाज नारी को लेकर आन्तरिक रूप से उतना नहीं परिवर्तित हुआ है जितना कि वाह्य रूप से परिवर्तित हुआ दिखाई देता है अभी भी शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक रूप से प्रताड़ित हो रही है फिर भी संघर्ष कर रही है एवं स्वयं के लिए बेहतर समाज का निर्माण कर रही है, पारम्परिक रूढ़ियों और बन्धनों को तोड़कर पुरुष वर्चस्व वाले अनेक क्षेत्रों में स्वयं को प्रमाणित कर रही हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. मनुस्मृति ३/५६
२. कबीर ग्रन्थावली, श्यामसुन्दरदास
३. मीरां वाणी, मीरा, पृ० ५८
४. नवजागरण और महादेवी का रचना कर्म स्त्री विमर्श के स्वर, पालीवाल कृष्ण दत्त, पृ० ३४४
५. जीवन झाँकी (लेख) संकलित सुमित्रानन्दन पंत, गंगा प्रसाद पांडे, पृ० १४
६. ज्ञान का स्त्रीपाठ, सुधा सिंह, पृ० ३३०
७. 'श्रृंखला की कड़ियाँ' महादेवी वर्मा, पृ० १०२
८. महीयसी महादेवी, गंगा प्रसाद पांडे, पृ० ३३२
९. सान्ध्यगीत, महादेवी, पृ० ५३
१०. महादेवी की रचना प्रक्रिया, कृष्णदत्त पालीवाल, पृ० ४१
११. 'श्रृंखला की कड़ियाँ', महादेवी, पृ० २३
१२. वही, पृ० २७

-शोधछात्रा (हिन्दी-विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
मो. : ७९८२२६४१०३
शोध निर्देशक-प्रो० शिव प्रसाद शुक्ल

समकालीन बोध और धूमिल की कविता

–विद्याप्रभाकर डॉ० कनुप्रिया प्रचण्डिया

रचनाकार अपनी रचनाधर्मिता के लिए जिन परिस्थितियों और घटित होने वाली घटनाओं से जिस सहजानुभूति को सहेजता- समेटता है अर्थात् जिस काल को वह जीता है, वही समकाल है, जिस रचना को आकार प्रदान करता है, वही समकालीन है। समकालीन कविता में परम्परा और संस्कृति के विस्मृत अथवा रुढ़िग्रस्त पक्षों के आकलन मूल्यांकन के नये चश्मे खोजे गये हैं। समकालीन कविता मनुष्यता के बृहत्तर आयाम की खोज की कविता है। काल के शिलाखण्डों को तोड़ते स्वाभिमान गहराई और अदमनीय जिजीविषा के साथ उत्तरोत्तर वृद्धि गत प्रवृत्ति समकालीन कविता में अभिदर्शित है। समकालीन कविता में उत्तर आधुनिकता बोध का आगमन हुआ है। यह कविता अपने परिवेश में है। टेक्नोलोजी और बाजार के प्रभावों से उत्पन्न नारी, पर्यावरण के महत्त्वपूर्ण स्पेसों को उभारने में सफल सिद्ध हुई है।

प्रत्येक युग अपने समय के साथ आगे या पीछे बढ़ता है और बदले हुए शब्दों में उस पूरे युग को तत्कालीन ही माना जाता है। इतिहास, संस्कृति और साहित्य का अपना एक निश्चित समय होता है। वह कालखण्डों में विभक्त होता है। वह अनवरत विकासमान परम्परा का रूप स्थिर करता है। भौतिक जगत् में किसी वस्तु के अस्तित्व की पहचान समय-सापेक्ष ही हो सकती है अतएव प्रत्येक क्षेत्र में तत्कालीन समय का महत्त्व अक्षुण्ण है। 'समकालीन' से आशय है किन्हीं दो चीजों की एक ही काल में उपस्थिति। दो चीजें परस्पर समसामयिक हो सकती हैं और समकालीन भी। समकालीन एक काल में साथ-साथजीना नहीं है। समकालीनता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला करना है। समस्याओं और चुनौतियों में भी केन्द्रीय महत्त्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।[1] एक समय में साथ-साथ रहना ही समकालीनता नहीं है, प्रत्युत अपने समय की परिस्थितियों को देखना-पेखना और पूरे परिवेश में व्याप्त प्रवृत्तियों के औचित्य-अनौचित्य के पक्ष-विपक्ष में संवाद करना समकालीनता है। समकालीनता का अर्थ-अभिप्राय है-तमाम संकटों के बावजूद अपने समय के प्रति ईमानदार होना।

सर्जक के पक्ष में समकालीनता दो प्रकार की सिद्धियों में परिणति प्राप्त करती है। पहला जब एक व्यक्ति के रूप में सर्जक अपने परिवेश और काल से उन घटनाओं, स्थितियों, प्रवृत्तियों

को सायास या अनायास ग्रहण करता हुआ अपने समय की चेतना से कुछ इस तरह से जुड़ता है कि उसी का एक अंग हो जाता है और दूसरा, तब जब वह उस प्रभाव का सहारा लेता हुआ भी उसका अतिक्रमण करके अपने सर्जन को इस तरह रुपायित करता है कि उसमें अतीत या पुरातन समकालीन संदर्भ में नव संस्कार पा जाता है और इस तरह अपनी उपयोगिता और नूतनता ही सिद्ध नहीं करता अपितु वर्तमान को जीने की अतिरिक्त शक्ति या ऊर्जा और भविष्य के लिए एक नवालोक भी प्रदान करता है। समकालीनता परम्परा के वांछनीय संस्कारों को विवेक संयत दृष्टि से ग्रहण कर भविष्योन्मुखी होती है। असल में समकालीनता मानव-भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है। भविष्य के प्रति नियति के प्रति नहीं। मनुष्य की प्रतिभा और सामर्थ्य की अनंत संभावनाओं का द्वार अपने अनुभव के लिए खुला रखकर सप्रयत्न उसके वर्तमान को बदलने में जो संलग्न होता है, वही समकालीनता का धर्म निर्वाह करता है।[२]

समसामयिकता का झुकाव तात्कालिकता की ओर अधिक होता है जबकि समकालीनता का शाश्वतता की ओर। समसामयिकता में स्थिरता है जबकि समकालीनता में गति । शाश्वत्ता प्रत्येक काल में स्थिर है लेकिन समसामयिकता एक काल विशेष में। आधुनिकता मध्ययुगीन, पुरातन एवं अप्रासंगिक संस्कारों का परित्याग तथा आधुनिक, नवीन और प्रासंगिक मूल्यों की स्वीकृति है, लेकिन एक समय विशेष के बाद यह आधुनिकता भी पुरानी पड़ जाती है और इसे निरंतरता प्रदान करने के लिए परिष्कार की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए आधुनिकता को समकालीनता पर निर्भर रहना पड़ता है। समकालीनता ही वह तत्त्व है जिसके माध्यम से आधुनिकता अभिनव रूपाकार प्राप्त करती है। समकालीनता स्वयं भी परम्परा पर निर्भर करती है। परम्परा, आधुनिकता तथा समकालीनता का आपस में जुड़ाव गहन है और अन्योन्याश्रित भी है। एक कालविशेष से सम्बद्ध होते हुए भी अन्य कालों से अनिवार्यतः जुड़ी हुई है। साहित्य और काल के परिप्रेक्ष्य में यह जुड़ाव ही समकालीनता को पूर्णता प्रदान करता है।

गहन ऐतिहासिक मोहभंग के परिणाम स्वरूप आज की समकालीनता एक सर्वथा नई मूल्यवत्ता के संदर्भ के पास की है, जो हमें मानव-आस्तित्व की कठोर गतिविधियों या कर्म या राजनीति में हिस्सा लेने को बाध्य करती है। समकालीनता सिर्फ मुहावरा नहीं है बल्कि आज की संश्लिष्ट वास्तविकता में प्रवेश करने का संकल्प या प्रतिबद्ध जीवन दृष्टि है।[३] नई कविता के अमूर्त सम्मोहन को आज की कविताएँ तोड़ने का साधन बन गई है।[४] समकालीनचेतना जो बेहद राजनीतिक और बेहद मानवीय है जब जहाँ जिन कविताओं में अपनी रचनात्मक विशेषता के साथ झलकती है वहाँ तब समकालीन कविता है।[५] समकालीन कविता जीवन के सौन्दर्य और संघर्ष की कविता है।[६] सातवें दशक की कविता अस्वीकार से आरंभ होकर विद्रोह

और क्रांति तक फैलती हुई कविता हैं, जो प्रतिपक्ष की भूमिका ही नहीं निभाती, बल्कि एक सबल सार्थक समानान्तर पक्ष की भूमिका भी प्रस्तुत करती है।[७]

समग्रतः सन् १९६५ के आस पास से शुरू हुआ वह काव्य जो आज तक की उन समस्त काव्यरचनाओं को समेटता चला, जिसमें राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक परिवर्तन, धार्मिक विचारधारा पर आधुनिक प्रकाश, वैश्वीकरण का प्रभाव, उदारीकरण, सूचना प्रौद्योगिकी एवं मानव जीवन से जुड़ी समस्त घटनाओं को आधार बनाया गया, वही समकालीन कविता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर घटित घटनाओं, संचार-साधनों से सिमटती दुनिया, नारी, पुरुष, घुटन पीड़ा, आशा-निराशा, दहशत, आतंक, विज्ञान, रुढ़ि, कुर्सी, संसद, नेता, धर्म, ईश्वर, आस्था-अनास्था, दलित व दलित चेतना, भ्रष्टाचार, भूख, शोषण, नैतिकता, सामाजिक मूल्य और विसंगतियों को आधार बनाकर लिखी गई कविता समकालीन कविता है। वस्तुतः समकालीन कविता, आज की कविता और साठोत्तरी सातवें-आठवें दशक की कविता का समन्वित रूप से प्रतिनिधित्व करती है। धूमिल केदारनाथ सिंह, लीलाधर जगूडी, अशोक वाजपेयी, अरुणकमल, उदय प्रकाश, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, आलोक धन्वा आदि कवियों की कविताओं को सुविज्ञों ने समकालीन कविता के नाम से अभिहित किया है।

समकालीन कवि धूमिल की कविताओं का ढाँचा बहुत ही सशक्त है। धूमिल को समझने के लिए पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सोचना जरूरी है क्योंकि उनकी कविता भाव और बुद्धि दोनों ही स्तरों पर काम करती है।[८] धूमिल ने सर्वहारा वर्ग को केन्द्र में रखकर कविताएँ लिखी है- एक आदमी रोटी बेलता है/एक आदमी रोटी खाता है/एक तीसरा आदमी भी है/जो न रोटी बेलता है न रोटी खाता है/वह सिर्फ रोटी से खेलता है/मैं पूछता हूँ/यह तीसरा आदमी कौन है/मेरे देश की संसद मौन है।[९] वर्तमान समय में जन सामान्य का नेतृत्व करने वाले नेतागण आम आदमी का गला घोंटते हैं। नेतागण संसद में पहुँचने के बाद आगे होने पर उंगली तथा आँखों पर पट्टी बाँध लेते हैं। धूमिल की कविता में सामाजिक अन्याय, शोषण, अत्याचार, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था और मानवता के विरुद्ध संघर्ष की भावना अभिव्यक्त हुई है- 'ना कोई अपना हमदर्द वहाँ नहीं है/मैंने एक-एक को परख लिया है/मैंने हर एक को आवाज दी है/हर एक दरवाजा खटखटाया है, मगर बेकार/मैंने जिसकी पूँछ उठाई है, उसको मादा पाया।[१०] धूमिल आम आदमी के टूटते विश्वास, आस्था को कविता में लिखते हैं- 'जहाँ बंजर मैदान/कंकालों की नुमाइश कर रहे थे/गोदाम अनाज से भरे पड़े थे/और लोग भूखे मर रहे थे/मैंने महसूस/किया कि/मैं वक्त के एक शर्मनाक दौर से गुजर रहा हूँ।'[११] भूखी- नंगी, अस्वीकृत एवं श्मशान पीढ़ी के युवा कवियों की कुत्सित, विकृत एवं आत्मघाती घोषणाओं को एक स्वस्थ, संतुलित, सशक्त एवं सही दिशा प्रदान करके धूमिल ने ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य

किया है- न कोई प्रजा है/न कोई तंत्र है/वह आदमी के खिलाफ/आदमी का खुला-सा/षडयंत्र है।'[१२]

भारतीय राजनीति के षडयंत्रों के कारण समाज में बढ़ती गरीबी और अशिक्षा, बेरोजगारी, बढ़ती, गुंडागर्दी आदि कारणों के तह तक जाकर धूमिल कहते हैं। 'सचमुच मजबूरी है। मगर जिंदा रहने के लिए/पालतू होना जरूरी है। धूमिल जिसभूख को इतना महत्त्व देते हैं, वह अंतःप्रवृतिपरक मूल्य है और जिसकी पूर्ति के बिना जीव का अस्तित्व नहीं रह सकता। शिशु, माता स्त्री, पुरुष तथा प्रकृति के प्रति आकर्षण आदि मूल्य अंतःप्रवृत्तिपरक होते हैं। इनकी कार्यपरकता के क्षणों में सामाजिक प्रभाव भी अभिदर्शित होते हैं-उसने जाना कि हर लड़की तीसरे गर्भपात के बाद/धर्मशाला हो जाती है।[१४] धूमिल के लिए सामाजिक चेतना सबसे बड़ा मूल्य है। अंतःप्रवृत्तिपरक प्रसंगों में भी सामाजिक चेतना की सदैव प्रज्ज्वलित अग्नि को नहीं भूलते-'उस औरत' की बगल में लेटकर/मुझे लगा कि नफरत/और मोमबत्तियाँ जहाँ बेकार/साबित हो चुकी हैं और पिघले हुए/शब्दों की, परछाई/किसी खौफनाक जानवर के चेहरे में/बदल गई।[१५] धूमिल की कविता में अनेक स्थलों पर कविता के स्वरूपऔर उसकी भूमिका पर टिप्पणी की गई है-'वह एक ऐसा भादमी था/जिसका मरना/कविता के बाहर नहीं है।[१६]

धूमिल ने कई स्थानों पर भद्रभाशा में जीवन को नंगा किया है और नारी के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाया है- 'औरत योनि की सफलता के बाद/गंगा का गीत गा रही है। मासिकधर्म रुकते ही सुहागिन औरतें/सोहर की पंक्तियों का रस/चमड़े की निर्जनता को गीला करने के लिए।[१७] धूमिल नारी के प्रति इस दृष्टिकोण को नारी के उदात्त प्रेम से संतुलित करते हैं। औरत का मादक परंतु मानवीय रूप है- 'चौथी बार मैंने उसे एक लड़की/के चमड़े में गाते हुए सुना था/उसने सारे रिश्ते पैताने सरका दिये थे/और बेबाक चालाकी से खुद को/एक परिचित मादा खुशबू में बदल लिया था।[१८] आतिश के अंगार सी वह लड़की' कविता में नारी को ऊँचाई दी है- 'मुमकिन यह था कि थोड़ी सी मेंहदी/और एक अदद ओढ़नी का लोभ/लाल तिकोन के खिलाफ बोलता जिहाद /और अपने बैनिटी बैग में/बच्चों की एक लंबी फेहरिश्त/एक दिन चुपचाप सो जाती हौवा की। इंकलाबी औलाद।'[१९] धूमिल जीवन विरोधी नहीं, औरत की जड़ता के विरोधी हैं। धूमिल का कथ्य वर्तमान संग्रहशील, लाम, लोभग्रस्त समाज और शोषक, शासक शक्तियों के पर्दाफाश से अनुप्राणित है।

भारतीय समाज मूलतः कृषि समाज है। यहाँ की संस्कृति, नीति एवं संस्कार और आम चेतना भी मुख्यतः कृषि समाज की है। किसान जीवन के वास्तविक सुख-दुःख, आशा-निराशा, संघर्ष भी धूमिल की कविता में दिखाई देता है। किसान को बाध्य किया जा रहा है अपनी

जमीन और खेती बेचने के लिए। अपनी इस विभिन्न आपदाओं से लड़कर वह आगे बढ़ता है तो भी उसे यहाँ की व्यवस्था पिसने का काम करती है- 'लहलहाती हुई फसलें/बहती हुई नदी/उड़ती हुई।

चिडियाँ.../यह सब, सिर्फ तुम्हें गूंगा करने की चाल है/क्या तुमने कभी सोचा कि तुम्हारा/यह जो बुरा हाल है/इसकी वजह क्या है?/इसकी बजह वह खेत है/जो तुम्हारी भूख का दलाल है।[२०] इस प्रकार धूमिल साफ और स्पष्ट शब्दों में किसान की पीड़ा व दर्द का कारण बताते हैं। धूमिल की 'शहर में सूर्यास्त' शीर्षक कविता में चरित्रहीनता, मंत्रियों की कुर्सियों में तब्दील होती दिखलाई पड़ती है तथा उनकी अकालदर्शन' कविता का यह भी यथार्थ चेतना से अनुप्राणित दीखता है- मैनें जब भी उनसे कहा है। देश शासन और राशन/उन्होंने मुझे टोक दिया है। अक्सर वे मुझे अपराध के असली मुकाम पर/अंगुली रखने से मना करते हैं।[२१]

धूमिल की कविता भाषा और अपने आत्मीय स्वरों में ध्वस्त-अंतरात्माओं का इन्द्रधनुषी सेतु है। कविता से बाहर अपनी सरजमीन पर खड़े धूमिल के व्यक्तित्व की यह एक खास पहचान है।' धूमिल ने अपनी कविता में व्यक्ति सत्य और समय सत्य का सुंदर समन्वय संयोजित-स्थापित किया है।[२२] धूमिल ने वर्तमान परिस्थितियों की भीतरी-बाहरी टकराहट, आम आदमी की विडम्बना को, उसके आत्मसंघर्ष को, रुढ़िग्रस्त मनोवृत्ति, धार्मिक संकीर्णता, समाज और राजनीति के बदलते हुए स्वरूप को वाणी देने का महनीय कार्य किया है। धूमिल की कविता संवेदना के विस्तारको यथार्थबोध का परिणाम मानती है। वह यथार्थबोध जन सामान्य की पीड़ाओं, आकांक्षाओं तथा त्रासद दिशाओं की पृष्ठभूमि में से उभरा है। धूमिल की कविता मे शोषण एवं अन्याय के प्रति विद्रोह तथा संघर्ष की भावना विकसित हुई है और परम्परागत रूढ़ियों, विषमताओं, अज्ञानता और पाखण्ड के विरुद्ध विद्रोह की जो चेतना उनमें आयी है वह प्रतिबद्धता और अजनबीपन, जादुई और क्रांतिकारी यथार्थ, सपाट और काव्यात्मक के तनाव से अभिमंडित है। अतएव वह हमारे समय का मार्मिक साक्ष्य बन चुकी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, समकालीन सिद्धांत और साहित्य, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लि. दिल्ली, १९७६, पृ० १६
२. रघुवीर सहाय, यथार्थकी यथास्थिति नहीं, पृ० ७३
३. परमानंद श्रीवास्तव, समकालीन हिन्दी कविता, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९९०, पृ० १४१
४. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७४, पृ० ८६
५. गंगा प्रसाद विमल, आधुनिकताः साहित्य का संदर्भ दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लि० दिल्ली १९७८, पृ० ८७

६. शंभूनाथ सिंह, सौंदर्य और संघर्ष की समकालीन कविता, पृ० १०५
७. प्रभाकर श्रोत्रिय, हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लि. दिल्ली, १९७८, पृष्ठ १७८
८. सम्पा० कुँवर पाल सिंह, इन्द्रप्रस्थभारती, अंक १, वर्ष-३, जनवरी-मार्च, १९९०
९. चूमिल, कल सुनना मुझे, युगबोध प्रकाशन, वाराणसी, १९७७, पृ० ३३
१०. धूमिल, सुदामा पांडे का प्रजा तंत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली १९८३, पृ० ८६
११. धूमिल, संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली १९९२, पृ० ११८
१२. सुदामा पांडे का प्रजातंत्र, पृ० २८
१३. सुदामा पांडे का प्रजातंत्र, पृ० ३८
१४. संसद से सड़क तक, पृ० ७
१५. संसद से सड़क तक, पृ० २५
१६. संसद से सड़क तक, पृ० ३३
१७. संसद से सड़क तक, पृ० ३१
१८. कल सुनना मुझे, पृ० ६६
१९. कल सुनना मुझे, पृ० ७६
२०. संसद से सड़क तक, पृ० ४८
२१. संसद से सड़क तक, पृ० ४७
२३. डा०. आदित्य प्रचण्डिया, आधुनिक हिन्दी कविताः परम्परा और परिवेश, तारामंडल, सासनी गेट, अलीगढ़, १९९१, पृ० १८१-१८६

-मंगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर,
आगरा रोड, अलीगढ़-२०२००१ (उ०प्र०)
चलभाष-९८९७१४४०२२

⊙

तुमड़ी के लिए शब्द बुनता हूँ.....

–डॉ० अरुण कुमार मिश्र

'तुमड़ी के शब्द' श्री युत श्री (प्रो.) बद्री नारायण जी की कालजयी रचना है, यों तो यह एक काव्य संग्रह है, जो विविध रचनाओं की माला के रूप में प्रस्तुत है। इसमें कुल ५६ रचना रूपी मोती है, जिन्हें रचनाकार ने संवेदनाओं के धागे से पिरोया है। यह न तो स्फटिक की माला है न ही हीरा, पन्ना, मोती की माला, यह बेशकीमती माला है जिसका कोई मूल्य नहीं। इसे दुकानों पर न तो बिकते पाएंगे न ही कोई कीमत लगा पायेगा; क्योंकि यह संवेदना के धागे से भौतिक और आध्यात्मिक जगत के अस्तित्व को प्रस्तुत करने का महती प्रयत्न है।

किसी कवि या रचनाकार द्वारा कभी-कभी वैयक्तिक कारणों से लिये गए निर्णय भी बृहत्तर संदर्भ बन जाया करते हैं और इसी में कभी-कभी अपनों का अजनबी हो जाना या अजनबी का अपना हो जाना किसी क्षण विशेष का मोहताज नहीं होता, ऐसे ही किसी क्षण विशेष में न जाने वह कैसा प्रश्न कर्त्ता था जिसे अपने उत्तर की परवाह नहीं थी, वह सृजन करता चला गया। यों तो दिखने दिखाने में वह मौन ही रहता है, परन्तु उस मौन का उसने क्या अर्थ लगाया। आज भी नहीं जान सका, लेकिन मन ही मन उस के अंदर की सर्जना शब्दों की बुनावट करने लगी, तब ये पता चला कि इस मौन ने तुमड़ी के लिए शब्दों की बुनावट की।

तुमड़ी के शब्द का पहला प्रकाशन २०१९ ई. में राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ और दूसरा संस्करण वहीं से २०२३ ई. में आया। महत्वपूर्ण यह कि इस कृति पर देश का प्रतिष्ठित साहित्य अकादमी पुरस्कार (२०२२ ई.) भी मिला। बात आती है उस सर्जक की तो उनके जैसा शब्द पुरुष उत्तर आधुनिकता के कवियों की श्रेणी में अभी तक कोई नहीं दिखाई दिया। यह भी महत्वपूर्ण है कि आज उनकी कृति 'तुमड़ी के शब्द' ने उत्तर आधुनिक सर्जना विधा को एक ऐसी करवट प्रदान की जहाँ से प्रत्येक मानवीय चरित्रों की आन्तरिक लुका-छिपी के खेल का पर्दाफाश हो सका।

कहना न होगा कि आधुनिकता और परम्परा की रस्साकशी से संतप्त आधुनिक व्यक्ति के गोपनीय रहस्यों का बौद्धिक तार्किक विश्लेषण हुआ। कुछ सुधी आलोचक इसका श्रेय उनके अन्दर बैठे हुए एक कालजयी रचनाकार को न देकर बल्कि उन पाश्चात्य विचारों को देंगे

जिसका प्रभाव कमोवेश उन पर भी है। थोड़ा सा निरपेक्ष होकर सोचा जाय तो बद्री नारायण भी सभी की तरह अति संवेदन लेकिन असुरक्षा की भावना से निरंन्तर ग्रस्त एक सामान्य सहज संवेदना से युक्त रचनाकार है। फिर भला कैसे उनकी रचना धर्मिता अपनी सुरक्षा-संरक्षा के क्षणों में कुछ विचारों को बैशाखी बनाकर न चली होगी। स्पष्ट है कि उनकी प्रारंभिक रचनाएँ दलितों, दीन-हीनों की आर्थिक, सामाजिक-असुरक्षा को लेकर चलती है, जबकि आगे की रचनाएँ मध्यवर्ग के साथ-साथ संस्कृति और राष्ट्र की असुरक्षा को लेकर चलती है। अस्तित्व बोध दोनों स्तरों पर है।

महत्वपूर्ण यह है कि जिस समस्या को व्यक्ति स्वातन्त्र्य के रूप में बद्री नारायण वर्तमान काल में उठाना चाह रहे हों; हो सकता है कि वह अपने मूल उत्स तक पहुँचते-पहुँचते उसे इच्छाओं के रूप में वे पूरी कर चुके हों। हो तो यह भी सकता है कि सन् २०२० के बाद रचनाकार की अनुभूति में एक ऐसा कुछ महत्वपूर्ण घटा ही न हो जिसे वह व्यक्त करना चाहता हो और घटता भी कैसे? क्योंकि जीवन से लेकर मृत्यु तक की सम्पूर्ण कथा तो रचनाकार ने कह दी ही है। सच तो यह है कि मृत्यु के बाद बचा ही क्या है ? बची है संवेदना, बचे है विचार-

"धीरे-धीरे मर रहे हैं गाँवों के विचार
यह हम समझ नहीं पा रहे हैं
पर स्वर्ग में गाँधी जी
और जंगीगंज में रात में रोते हुए सियार
इस बात को अच्छी तरह समझ रहे हैं
X X X X X
सूर्य उत्तरायण में जाने वाला है
शर शय्या पर लेटे
गाँव के विचार
अपने मृत्यु का इंतजार कर रहे हैं
हमारे घर के पीछे रात चार बजे के आस-पास-
एक कुत्ता रो रहा है
कि शायद इन विचारों के मरने के बाद
इनकी लाशें जलाने वाला
भी कोई नहीं बचेगा
न आदमी, न जानवर,
न चिड़िया, न चुरगुन"[१]

ये गाँव के विचार अपनी जड़ों से कट रहे है ये विचार नहीं अपितु संस्कृति है, जिनका व्यापक पैमाने पर क्षरण हो रहा है। जो भी हो ऐसी रचनाकार की संप्रेषण विवशता है। ये और बात है कि उनके इस विचार को हम सांस्कृतिक क्षति को आगाह करने वाला मान लें इसलिए कि उनकी सर्जना तो संभवतः साहित्य को एक नई दिशा दे ही रही है, वह हो सकता है कि वें सांस्कृतिक पतन के परिणाम को देख पा रहे हो।

अपनी विचारधारा में रचनाकार किसी राष्ट्र अथवा समाज के यथार्थ बोध को उसकी संवेदनाओं तक सीमित कर उसके स्वच्छन्द जीवन को बौद्धिक गति देने की कोशिश करता है। 'तुमड़ी के शब्द' तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने मुक्तता के उस भाव दर्शन का जामा पहनाना चाहा है. मुक्तता, स्वच्छन्दता को दार्शनिक बनाकर संभवतः उन्होंने उसे और मूल्यवान बनाना चाहा हो। उसके करीब नौ दस साल बाद 'भदोही बस स्टैण्ड पर' में उन्होंने व्यक्ति स्वातन्त्र्य की बौद्धिक विवेचना से उत्पन्न आशावादिता को मृत्यु से साक्षात्कार कराना चाहा है। क्योंकि किसी भी दर्शन की तान को अंततः मृत्यु पर ही टूटना पड़ता है। मृत्यु एक शाश्वत चिरन्तन सत्य है, यहाँ पर आकर सबके साक्षात्कार अलग-अलग हो सकते हैं। मृत्यु बोध से साक्षात्कार के कुछ महत्वपूर्ण क्षण बद्री नारायण जी की कुछ कविताओं की मूल चेतना है।

बात उठी है अस्तित्व बोध की, व्यक्ति स्वातन्त्र्य की तो सबसे पहले तो मैं यह कहना चाहूँगा कि यह भी एक मूल्य है। अनेक विचारक दार्शनिक मानते होंगे कि अमुक मूल्य पश्चिमी-सभ्यता की धरोहर है। भारतीय सभ्यता में ऐसा नहीं होता। यहाँ तो धर्म को उसके अधीन समाज से सामंजस्य को महत्व दिया जाता है। हमें लगता है कि पश्चिमी सभ्यता में इसी के समक्ष चुनौती के रूप में अस्तित्व बोध को रखा गया है। इसलिए कि उसके साये तले व्यक्ति के अकेलेपन, उसके दायित्वबोध, उसके स्वतंत्र नैतिक मूल्यों के गठन और उसकी आवश्यकता-उपादेयता को समझा-समझाया जा सके। सच तो ये है कि हम हमेशा ही अपनी और दूसरी संस्कृति के मूल्यों को समझने में गलती करते रहे हैं। दोनों के मूल्यों के प्रति समान समझदारी, सहजानुभूति हमारे संवेदन का विस्तार कर सकती है, हमारे समरस संस्कार का परिचायक भी बन सकती है। हमारी सांस्कृतिक उदारता और संपन्नता का यह द्योतक भी है। कुल मिलाकर अकेलेपन और साथ लेकर चलने की व्यापक प्रक्रिया हमें ढेर सारी टकराहटों से ऊपर उठ सकती है। हमारे कुछ पूर्व के कवियों को पश्चिम और पूर्व के बीच की कुण्ठा कहने वालों के लिए इससे अधिक नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष रूप में कहा जाय तो किसी भी संस्कृति का मौलिक अनिवार्य सम्बन्ध मूल्य दृष्टि से होता है और अगर हमारी संस्कृति जाग्रत है तो अर्थ मात्र इतना ही है कि हम उस प्रक्रिया में परम्परागत मूल्यों को पहचान लें और उचित विकास के लिए प्रासंगिक मूल्यों को

स्वीकार कर लें। ध्यान रहे कि संस्कृति की चेतना मात्र स्वीकार भाव नहीं है, यह तो मूल्यों के अनवरत खोज की स्वाभाविक प्रक्रिया है। स्वयं कवि के ही अनुसार चेतना सम्पन्न संस्कृति एक जिज्ञासु भाव अथवा प्रश्नाकुलता लिये रहती है और प्रश्न पूछने का यह सामर्थ्य इस आकुलता की मात्रा, उसकी जीवन्तता और उसके चैतन्य की माप हो सकती है।

बद्री जी का यह संग्रह अक्सर हमें साठवें दशक का वह सच लगा है, जिसके अन्तर्गत स्वतन्त्र्योत्तर भारत, पश्चिमी-पूर्वी मूल्यों की टकराहट से सर्वाधिक जूझ रहा था। कभी-कभी सब कुछ स्वीकार करने की मुद्रा में होता था तो, कभी सब कुछ इन्कार कर देने की। वैसे इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अधिकाधिक पाश्चात्य चिंतन का भारतीय चिंतन से सांठ-गांठ बैठाने की कोशिश आलोच्य संग्रह की प्रमुख चिन्ताओं में से एक है। 'मरते हुए जीना' और 'जीते हुए भी मरना' यहाँ दो भिन्न मूल्यों का संघर्ष पहले है, विचारधाराओं की टकराहट बाद में।

यों तो इक्कीसवीं सदी के प्रथम दो दशक में विचारधारा का विशेष आग्रह नहीं दिखाई दे रहा है। अति बौद्धिकता या भौतिकवादी महत्वाकांक्षा ने स्वयं ही एक वैचारिक तिलिस्म खड़ा करने की कोशिश की है। चलते हैं फिर भी यातना के चरम क्षणों में जहाँ भावाकुलता अपने सारे तटबन्ध तोड़ने की स्थिति में होती है, स्वयं ये इतने अधिक बौद्धिक कैसे रह पाते हैं ? इसे हम इनका बौद्धिक योग कहें या बुद्धि विलास या बौद्धिक सहवास, अक्सर समझ में नहीं आता। जहाँ हम ये मानते आये हैं कि मनुष्य के हर व्यवहार का कोई-न-कोई सिद्धान्त होना चाहिए, वहीं क्या यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी भी सिद्धान्त को आम-व्यवहार क्रियापेक्षी होना ही चाहिए। ऐसी भाव-भीनी शिकायतें इस संग्रह में भी कुछेक बार दृष्टव्य होती है।

वस्तुतः बद्री नारायण जी को जिस कालावधि ने लेखन संस्कार दिया उसमें एक ओर तो अतिबौद्धिकता, विविध विमर्शों का अतिरेक वाली क्रांतिकारिता का युग है, जिसमें कुछ समय तक बद्री जी का भी मन खूब रमा, दूसरी ओर २६/११ के बाद की विभिषिकाओं से युक्त कविताओं का प्रारंभिक दौर स्थापित हो चुका था, उदय प्रकाश, चन्द्रकान्त देवताले, कुँवर नारायण, लीलाधर जगूड़ी से लेकर बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा जैसे लोग अपनी-अपनी संबल उपस्थिति दर्ज करवा चुके थे। इन युगीन संकल्पनाओं से अज्ञेय भी प्रभावित रहे हैं। जीवन और मृत्यु, प्रलय-प्रवाह, सन्नाटे में उठने वाले तूफान, विदीर्ण होते पहाड़, मेघाच्छन्न-विस्तृत आकाश, थके, लहूलुहान-पाँव, शिखर की ओर बढ़ता पर्वतारोही और महा-शून्य में उल्का की तरह भटकता मानव आदि-आदि ये सब क्या है? निश्चित रूप से ये कोई कविता नहीं और न ही दल-बदलू विचारों की वैचारिक लोकसभा है बल्कि इन सबसे परे रचनाकार के स्वत्व की गहन मीमांसा है जो भाषा के बाहर सब की होकर फूट पड़ी है। यहाँ कर्मवीर गांधी भले

न दिखें लेकिन कहीं-कहीं चिन्मयकारी विवेकानन्द अवश्य जीवन की सत्यता और मृत्यु के प्रति साक्षी भाव प्रस्तुत करते हुए आते हैं।

निश्चित रूप से बद्री नारायण जी की कविताओं को देखकर कभी-कभी बड़ी सहानुभूति होती है कि इतिहास मानवता और राष्ट्र के साथ जिस क्रांति पथ पर चलकर वे अपनी संवेदना के महासागर के तट पर पहुँचते हैं, वहाँ कोई न कोई 'छाया' बनकर उनका साथ क्यों नहीं देती ? वे वहाँ भी अकेले नहीं रह पाते, बल्कि एक प्रेतात्मा या कोई ग्रंथि बनकर उनकी स्वप्निल दुनिया में भी उनका एकान्त चीत्कार बनती है। क्या है? कौन है?, कैसी है? उनकी यह परछाई।

बद्री नारायण की तुमड़ी के शब्द संग्रह में जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों को न सिर्फ वे आत्मसात् करते है, बल्कि उन पर वैचारिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत भी करते है। राजनीति में नैतिक मूल्यों की महती आवश्यकता है। जिसे हम 'बेगमपुरा एक्सप्रेस' शीर्षक कविता में देख सकते है।

''कत्ली, खूनी, बलात्कारी,
बेईमान, चालू, फूहड़, लम्पट,
हिंसक, झूठ, बवाली
सुल्तान, साहिब, मालिक
इन सबको नहीं मिलेगा टिकट
दम्भी कवि, सत्ता के बौद्धिक
सब खड़े रह जाएंगे और नहीं मिलेगी
उन्हें इस ट्रेन की टिकट''[२]

वे राजनीति में उनके प्रवेश की वकालत करते है जो प्रेम, सौहार्द्र और मानवता के पुजारी हो, जिनमें ढाई आखर (प्रेम) की भावना जाग्रत हो; वही टिकट को प्राप्त करेंगे। जिसमें लोगों के प्रति सहिष्णुता और ममत्व का भाव हो, अजनबीपन से दूर संघटन की क्षमता हो; वे ही देश के निर्माण में सहयोगी हो सकते है। जिसे वश में करना कठिन हो, जिसे मानवता के स्वर से परास्त करना कठिन हो, उन्हें मानवतावादियों के बीच में किसी भी प्रकार का अवकाश नहीं देना होगा। हम ऐसे आतताइयों से दुर्धर्ष समर करते रहेंगे। वे हमारी समग्रता में समायोजित नहीं हो सकते हैं। जीवन की वास्तविकता भी है, जो अपनी परम्पराओं से कट गया, वह जड़ों या संस्कृति से कट गया है। परम्पराएं व्यक्ति को निर्मित ही नहीं करती, अपितु आगत भविष्य के सुनहले स्वप्न की निर्मिति में सहायक भी होती है। जो नहीं है; उसे भी जोड़ती है। इसे हम 'लगाओ गुहार' शीर्षक कविता में देख सकते है-

''लगाओ गुहार
कि बच सके देशज विचार
और कहीं नहीं तो
गिरि-पर्वत, जंगल-झाड़ू में ही
उनके भी पक्ष में चलाओ
एक हस्ताक्षर अभियान
कवि गण मेरे देश की शान।''[३]

यहाँ कवि गण से आशय बौद्धिक लोगों के कर्त्तव्य भी है; जिन्हें उनको पूर्ण करने है।

अपनी परम्पराओं उसकी संवेदनाओं को सँजोये रखने की जिजीविषा 'पिछले जन्म की याद' शीर्षक कविता में भी व्यक्त करते है।

''मैं अब भी लिए फिरता हूँ
लाल रूमाल में बँधी आगे,
जिसे पिछले जन्म में किसी ने दिया था।''[४]

स्पष्ट है कि कवि की छटपटाहट परम्परा से जुड़ने की है, तो वर्तमान से अपनत्व की भी है। वह वर्तमान को परम्परा के माध्यम से सँजोये रखना चाहता है। उनका 'स्व' अपनत्व की भावना न मिलने की, पाने की कसकती वेदना 'बुरुंस के फूल' शीर्षक कविता में दिखाई पड़ती है-

''वह भीलनी उन्हें मिलकर भी कहाँ मिल पाई
कि मिलने की सम्भावना का बिल्कुल न होना
कि मिलते, मिलते न मिल पाना
कि न मिल मिलकर छूट जाना।''[५]

भले ही यह सेनवंश के राजा लक्ष्मण सेन का प्यार हो, परन्तु स्व की छटपटाहट स्वाभाविक महसूस हो रही है।

ध्यातव्य है कि अज्ञेय प्रगतिवादी विचारधारा के विरोधी थे। वे किती मत के आग्रही नहीं थे; कमोवेश वही बद्री नारायण जी में भी यही दिखाई पड़ता है। 'विचारमृत्यु' कविता में लिखते है-

'''रोज' नये-नये चिप्स
नये-नये गजेट्स
मोटोरोला, सैमसंग, नोकिया
यूनिनहर, बोडाफोन, एयरसेल

एयरटेल
मात्र मशीने नहीं है
विचार है ये मात्र सुविधाएँ नहीं हैं
विचारों के प्रवाह के मार्ग है
इनमें स्वप्न देखता है
सिलिकहन वैली
दिल्ली की आँखों से।''[६]

इसे आप फैंटेसी नहीं कह सकते, बल्कि सच्चाई भी यही है। आधुनिकता ने उत्तर-आधुनिकता को जन्म दिया, जिसमें यंत्र हमारे विचारों के वाहक बन चुके है, हमारी संवेदनाओं को शुष्क कर रहे है। यंत्र हमारे जीवन के आवश्यक-अनिवार्य अंग बन चुके हैं।

क्रोंचे की एक विलक्षण स्थापना है कि ''सभी मनुष्य कवि है- कुछ बड़े और कुछ छोटे।''[७]

'तुमड़ी के शब्द' संग्रह की काव्य यात्रा 'सिर्फ चार दिन' शीर्षक कविता से शुरू करते हुए तथा 'विचार मृत्यु' से गुजरते हुए, 'पहचान' तक पहुँचते-पहुँचते हमें जो प्राप्त होता है, वह सहसा सहज-प्रत्याशित नहीं लगता, इसलिए कि यह काव्य-संग्रह एक ही साथ परिचित और अपरिचित दोनों लगता है। यदि रचना के दृष्टिकोण से देखा जाय तो उसमें वर्णित जीवन दृष्टि किसी के लिए भी कुछ न कुछ परिचित हैं, लेकिन एक सीमा के बाद ये परिचय अनुभूति का अंग बन जाते हैं। पाठक स्वयं ही अपने अन्दर वैचारिकता एवं अनुभूतिशीलता के द्वन्द्व से घिर जाते है। पूर्वी-पश्चिमी मूल्यों के टकराहट के दौर में एक संवेदनशील रचनाकार एवं असुरक्षा की भावना से ग्रस्त व्यक्ति की संभवतः यही नियति हो बहुत परिचित एवं बहुत अकेला और अजनबीपन एक ही साथ, एक ही छत के नीचे विवश, आकर्षण-विकर्षण से तप्त, लेकिन गति मान रहने को अभिशप्त।

यदि समकालीन हिन्दी कविता की विकास परम्परा पर ध्यान दे तो वहाँ भी ढेर सारे घुमावदार रास्ते दिखते हैं, उसने भी कई मंजिले तय की हैं। निश्चित सच से क्रमशः इसका अन्तः-बाह्य रूप परिष्कृत परिमार्जित होता रहा है प्रायोगिक क्षमता भी आयी है। 'यादों के लिए' वस्तुतः अपने उस पड़ाव की देन है जब भूखी पीढ़ी और विद्रोही पीढ़ी के कवि अपने समाज का सच्चा प्रतिनिधि बनते-बनते उकता गये थे। उसके सामने भी ढेर सारी सामयिक पारिस्थितिक विवशताएँ आ गई थीं, ऊपर से पाश्चात्य चिंतन के प्रति गहरे आकर्षण से भी हम इन्कार कर सकते थे। परम्परागत मूल्य अपनी सीमाओं के कटघरे से बाहर आना चाह रहे थे। स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश में मुख्य प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम कर रही थी पहली विकास की तीव्रता और दूसरी वैश्विक स्तर पर अपनी पहचान बनाना।

"हम ट्रेन से गुजरते हैं एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन
हमसे छूटते जाते हैं अनेक दृश्य
छूटते जाते अनेक दृश्यों में से एक दृश्य के लिए
मैं आज तक रोता हूँ
बचपन में,
मैं उड़ाता था हवा में पतंगें
उन पतंगों में से मेरी लटाई से कट गई एक
सतरंगी पतंग को
मैं आज तक करता हूँ याद
सबसे छुपा कर पोंछ लेता हूँ
उसके लिए आँखों की कोर पर लुढ़क आए
आँसू
मैं नहीं चाहता मेरे जीवन में कोई आए
और मुझसे छूट जाए।"[८]

विदेशी परिवेश के आलोक में यदि सर्जना होंगी तो उसका देशकाल कोई विदेशी राष्ट्र होता है। इसका एक कारण धीरे-धीरे बढ़ती बौद्धिकता के कारण विदेशी-पने की मानसिकता का खत्म होना हो या फिर इस द्वैधता को समाप्त करने का, एक पुरजोर साहित्यिक प्रयास। जो भी हो आज ये भावनाएं दूर हो रही हैं। ये ही कारण रहे कि विदेशी पृष्ठभूमि से जुड़े काव्यों को लिखने की परम्परा ही चल पड़ी। अज्ञेय, जैसा कि स्वभाव से ही हर नये आकर्षण से आगे बढ़कर हाथ मिलाने के आदी है, यहाँ भी इसकी घोषित शुरूआत इन्होंने ही की।

वर्तमान समय में पश्चिमी औद्योगिक समाज में मध्यवर्गीय युवाओं के चिर शैशव की प्रक्रिया उन्हें भ्रष्ट बना रही है, क्योंकि उनमें लम्बे अरसे तक बाल सुलभ कल्पनाओं को ठूँसा जाता है। इसी कारण वें वास्तविक दुनिया के कटु यथार्थ से नहीं टकराते। "यह औद्योगिकतावाद का ही तकाजा है कि जब हम किसी को 'तर्कसंगत होने', 'सही बात बोलने', 'वास्तविक विवरण देने', 'सरजमीन पर पैर रखने', 'तथ्यों तक सीमित रहने', 'वास्तविक होने' आदि के लिए कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य होता है कि वह 'आन्तरिक' भावनाओं की बात न करे तथा दुनिया को वैसे देखे जैसे एक इंजीनियर निर्माण परियोजना को देखता है अथवा एक भौतिक विज्ञानी परमाणु अंशों को देखता है। ऐसा माना जाता है कि बिना कविताओं और चित्रकलाओं के दुनिया चलती रहेगी जबकि बाँधों, सड़कों, बमों और ठोस नीति के बिना शायद ही दुनिया

चल पाएगी। सो कला फुर्सत की चीज मानी जाती है- वास्तविकताओं और जरूरतों के बाद बचे-खुचे समय की चीज।''[६]

'फकीर की याद' शीर्षक कविता में वे उपभोक्तावादी संस्कृति पर करारा व्यंग्य करते है-

''किससे कहूँ-
'मन की बात' मेरे पास पर मेरे भीतर नहीं है मेरा फकीर''[१०]

उपर्युक्त पंक्ति में 'फकीर' शब्द का सूफी मुस्लिमों के लिए प्रयुक्त होता है। जो अपनी सांसारिक संपत्ति का त्याग कर देते है और अपना जीवन ईश्वर के निमित्त समर्पित कर देते हैं। भारतीय परम्परा में इसे निर्वेद का भाव भी कहते हैं। निवेद का अर्थ वैराग्य या सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों से निर्लिप्तता है। कवि प्रस्तुति का आशय भी यही है कि जीवन में विरक्ति का भाव नहीं है, सन्तोष का भाव नहीं है, अपितु अधिकाधिक पाने, जोड़ने, भोग करने की लालसा व्याप्त है। स्वाभाविक है कि हमारा परिवेश उपभोक्तावादी संस्कृति से आच्छादित है।

''उपभोग के गरजते बादल
लालच के चुने अंधकार में
न जाने कहाँ खो गया है
मेरे भीतर का रमता जोगी।''[११]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह स्वभावतः समाज से पृथक् नहीं रहना चाहता, अपितु किसी समूह, समुदाय में अपने को रखता है। यदि कोई बालक जानवरों के समूह में पले बढ़े, तो वह उनकी बोली-बानी, आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, चलना-फिरना, दौड़ना-भागना सब कुछ, आत्मसात करने लगेगा। फिर बौद्धिक प्राणी इसके विरत क्यों होगा? हमारी वैश्विक संस्कृति आध्यात्मिक न होकर भौतिकवादी बन चुकी है; तो स्वाभाविक है कि वैराग्य की भावना कैसे व्याप्त होगी। हर व्यक्ति एक दूसरे से बेहतर जीवन जीने की कल्पना कर रहा है। इस हेतु वह आध्यात्मिकता की तलाश नहीं करता, अपितु भौतिक संसाधनों की होड़ रख रहा है। महँगी-महँगी गाड़ियाँ, महँगे-महँगे कपड़े व आवश्यक वस्तुओं का संकलन कर रहा है। बाजार में उसे सभी वस्तुएं उपलब्ध है।

कवि भी व्यक्ति की अध्यात्मिकता उसकी स्व की तलाश कर रहा है-

''लिखता, खेलता था पर न जाने अब कहाँ गुम हो गया
यहाँ ढूँढा वहाँ ढूँढ़ा, माल, पी.बी. आर.
की चमकती दुकानों में पर उसका कहीं भी पता नहीं
कामना, लिप्सा, अभीप्सा,

बुभुक्षा की धधकती अग्नि में
हो सकता है वह जल कर राख हो गया हो,"[१२]

अन्ततोगत्वा मानव की भौतिक लिप्साएं उसे कहाँ ले जायेगी यह तो कवि ने स्पष्ट कर दिया है। जीवनधर्मी लगाव व्यक्ति का प्रयोजन होता है, लेकिन दीर्घकाल तक जीवन को प्रासंगिक बनाये रखने की आवश्यकता में निर्वेद का होना आवश्यक होता है। आज के समाजशास्त्री अपनी परम्पराओं को सहेजने की बात क्यों कर रहे है? इसलिए कि हमारी परम्परा आध्यात्मिकता की रही है, जियो और जीने दो की रही है। महाउपनिषद् में कहा गया है-

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्।
अन्तः सङ्ग परित्यागी बहिः संभारवानिव।
अन्तवैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखे हितः।।
अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु बसुधैव कुटुम्वकम्।।" [१३]

अर्थात्, उदार एवं उत्तम आचरण से सम्पन्न सभी श्रेष्ठ आचार-विचारों का अनुगमन करते हुए अन्दर से आसक्ति रहित होते हुए भी बाहर से सतत् प्रयत्न करता रहे। अन्तःकरण में पूरी तरह से वैराग्य को धारण करते हुए बाहर से आशावादी बनकर श्रेष्ठ व्यवहार करे। यह मेरा अपना (मित्र) है और वह नहीं है, ऐसे निकृष्ट विचार क्षुद्र मनुष्यों के होते हैं। उदार चरित वालों के लिए तो समस्त वसुधा ही अपना परिवार है। स्पष्ट है कि 'तुमड़ी' बद्रीनारायण जी की गहन बौद्धिकता है और 'शब्द' उनकी समग्रता का प्रस्फुटन है, जो अपने समकालीन समाज, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में काफी कुछ असहज हो चुका है, उसे सहज करने का आह्वान भी है। आज सम्पूर्ण मानवता संकट में है, चाहे वह आध्यात्मिक क्षेत्र हो या भौतिक अथवा वैचारिक! सर्वत्र लोगों में असंतोष का भाव व्याप्त है। इसके मूल में क्या है ? इसका निवारण कैसे हो सकता है ? इन जटिलताओं को रचनाकार ने प्रस्तुत किया है। उत्कृष्ट मानवतावादी रचनाकार होने के कारण ही सभी समस्याओं, जटिलताओं को मानववादी सोच से हल करने का प्रयास भी रचनाकार ने किया है।

बद्री नारायण जी में गंभीरता ऊर्ज्वसिता, कर्म और वचन की ऐक्यता प्रायः एक जैसी रही है। उन्होंने परिवार, समाज, क्षेत्र, राष्ट्र सब कुछ गम्भीर प्रवणता के साथ महसूस किया, असमानता या विषमता व्यक्तियों समुदायों में जिस कदर से प्रधान बन रही है, लोगों में जो असंतोष की भावना पनप रही है उससे इनका मन काफी व्यथित रहता है। इनका मानना है कि समानता की भावना व उसकी अवधारणा को व्यापक बनाना होगा, जिससे किसी भी ढाँचे की असमानता को चिन्हित कर उसे मिटाया जा सके। शायद उनकी इंतजार कविता इसी

भावना को प्रस्तुत भी कर रही है-

"जैसे रस्सी खोली जाती है
उल्टे हाथों से
वैसे ही कुछ देर के लिए
अपने को खोल डालो
X X X
मुक्त कर डालो अपने को
ऐसे ऐंठन से
जो तुमने अपने ही वजूद में भर लिया है
X X X
अपने को इतना सुसंगठित, इतना सुसज्जित
इतना व्यवस्थित कर लिया है
X X X
थोड़ा बेतरतीबी ले आओ
थोड़ा-थोड़ा असंगठित हो जाओ
एक दिन दाढ़ी न बने
ठीक से टाई न कसे
कोई बात नहीं
कुछ छूट जाए, कुछ टूट जाए, कुछ लुट जाए, कोई बात नहीं
हाँ-हाँ सर-सर, प्लस, माइनस, कुछ देर के लिए छोड़ दो सर जी
कविता ही जीवन की आलोचना करे
कोई जरूरी नहीं
एक दिन अपने जीवन से कविता की आलोचना
कर डालो
घड़ी के समय, मोबाइल के ट्रिंग, लैपटॉप
और ईमेल से इतर
कुछ देर के लिए ही सही
अपने आदमियत में लौट आओ
न जाने कब से तेरा ही मन
कर रहा है तेरा इंतजार"[१४]

कोई भी कवि या कथाकार या सर्जक अपने समय के साथ जीता है, अतीत से वह सीखता है, वर्तमान की भट्टी में तप कर और भविष्य के लिए एक नए मार्ग की तलाश करता है, जो आशावादी हो, ऊर्जावान हो सबको साथ लेकर चल सके। परस्पर समन्वय की भावना संवाद की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए समाज और राष्ट्र को परम वैभव पर पहुँचा सके, यही कार्य रचनाकार ने उपर्युक्त कृति में किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. प्रो० बद्रीनारायण, तुमड़ी के शब्द, पृष्ठ ४०, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-२०२२
२. वही, पृष्ठ ४५
३. वही, पृष्ठ ४२
४. वही, पृष्ठ २१
५. वही, पृष्ठ २८
६. वही, पृष्ठ-३६
७. डॉ० भगीरथ मिश्र- काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-२०१२, पृष्ठ २८१
८. तुमड़ी के शब्द, पृष्ठ ७६
९. सुभाष शर्मा, संस्कृति और समाज, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली, संस्करण-२०१३, पृष्ठ ४६
१०. वही
११. वही
१२. वही
१३. महोपनिषद् दोहा, ७०, ७१
१४. प्रो० बद्रीनारायण, तुमड़ी के शब्द, पृष्ठ ६१, ६२, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-२०२२

-मुनीश्वर दत्त पी०जी० कॉलेज
प्रतापगढ़
मो. ७०८४३४१०३५

समकालीन हिन्दी कविता में सौन्दर्यबोध के नये आयाम

–डॉ० नितेश उपाध्याय

सौन्दर्य गोचर तत्व है। वह आलंबन का गुण है। सौन्दर्य की सत्ता प्रमातृ सापेक्ष होती है। उसके मूल में सामंजस्य की भावना है। वस्तुवादी एवं भाववादी इन दो दृष्टियों से सौन्दर्य पर विचार किया जाता है। वस्तुवादी विचारकों के अनुसार सौन्दर्य की सत्ता 'वस्तु' में निहित है और भाववादी विचारकों का मानना है कि सौन्दर्य मनुष्य की आत्मा या मन में निहित है। रामविलास शर्मा के अनुसार-''प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है।''[१] सौन्दर्य एक भावमूलक अवधारणा है। भावगत होने के कारण सौन्दर्य, सौन्दर्यबोध को निश्चित परिभाषा में बाँधना संभव नहीं है। वस्तुतः सौन्दर्यबोध उत्पन्न करने वाले गुण 'वस्तु' में विद्यमान होते हैं, ये गुण हमारे ज्ञानेन्द्रियों को स्पंदित करते हैं। इस स्पंदन से जो बोध प्राप्त होता है, वही 'सौन्दर्यबोध' है। दूसरे शब्दों में कहें तो सौन्दर्यबोध वह विशिष्ट अनुभव है, जो द्रष्टा के मन में तब उत्पन्न होता है जब वह कलाकृति के प्रति पूर्णतः समर्पित हो। सौन्दर्यबोध का कोई बौद्धिक या तार्किक आधार नहीं होता। सौन्दर्यबोध का जैसा संबंध कविता से है, वैसा दर्शन, इतिहास, विज्ञान से नहीं क्योंकि काव्य का संबंध हृदय की रागात्मक अनुभूतियों से होता है। जबकि विज्ञान का तर्क से, इतिहास का तथ्य से और दर्शन का जिज्ञासा या विचार से होता है। सौन्दर्यानुभूति के लिए यह आवश्यक है कि वे सभी को अभिभूत करे, रसिकजन अपने-अपने स्तर से उसका उपभोग करे और वह सार्वजनिक हो। सौन्दर्य विशेष होता है, लेकिन उस पर किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होता। सौन्दर्यबोधी स्पंदनों का विश्लेषण किसी निश्चित नियम के आधार पर नहीं किया जा सकता, वह उन्मुक्त होता है। सौन्दर्यानुभूति का आधार व्यक्ति का 'प्रत्यक्ष अनुभव' होता है। सौन्दर्यानुभूति, व्यक्ति, भोक्ता के संबंध पर चन्द्रकान्त बांदिवडेकर लिखते हैं- ''सौन्दर्यानुभूति व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होती है और उसकी सार्वजनीनता का आधार भोक्ता का यह आग्रह होता है कि यह वस्तु सुन्दर है और वह सबको सुन्दर लगनी चाहिए।''[२]

सौन्दर्यबोध का संबंध सुखबोध से नहीं है। सौन्दर्य सुंदर और असुंदर दोनों हो सकता है। जो किसी व्यक्ति विशेष के लिए कुरूप है, वही किसी दूसरे के लिए सुंदर हो सकता है। सौन्दर्य दृष्टि की विषमता पर केन्द्रित होता है। सौन्दर्यबोध के लिए कल्पना, भावना, स्मृति,

बौद्धिकता आदि सभी की आवश्यकता होती है। ये मूलतः सौन्दर्यबोध के अवयव हैं जिनके समानुपातिक संयोजन के बिना सौन्दर्य व्यक्ति-वर्ग केन्द्रित बौद्धिक और बोझिल प्रतीत होता है। हिंदी की विचार कविता, जनवादी कविता को हम उदाहरण के रूप में देख सकते हैं। सौन्दर्यानुभूति एवं काव्यानुभूति का अनिवार्य संबंध होता है। जो उदात्त कल्पना भारतीय एवं पाश्चात्य समाज में सौन्दर्य के लिए विद्यमान है, वही उदात्तता काव्य के लिए भी अनिवार्य है। सुख-दुःख, आशा-निराशा, हास-परिहास, तनाव-कुंठा कविता में इन समस्त भावों एवं मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति होती है। सौन्दर्य की भाँति कविता भी सुंदर व असुंदर दोनों पक्षों को उद्‌घाटित करती है। वह जिस बिंब, प्रतीक, उपमान के आधार पर भावाभिव्यक्ति कर पाठकों को प्रभावित करती है, उसके मूल में सौन्दर्य है। वस्तुतः सौन्दर्य का प्रसार मानव जीवन के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग तक है जिसे कवि की सूक्ष्म दृष्टि देख सकती है। कवि-दृष्टि और सौन्दर्य के संबंध पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं- ''कवि की दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है चाहे वह जहाँ हो-वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष-साधन के लिए, प्रभाव की बुद्धि के लिए, कवि लोग कई प्रकार के सौन्दर्यों का मेल भी किया करते हैं। राम की रूपमाधुरी और रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिम्ब-सी जान पड़ती है। मनुष्य के भीतरी बाहरी सौन्दर्य के साथ चारों ओर की प्रकृति के सौन्दर्य को भी मिला देने से वर्जन का प्रभाव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है।''[३]

सौन्दर्यबोध और विवेचन की एक शास्त्रीय परम्परा भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य जगत् में रही है। किंतु ऐसा नहीं है कि सौन्दर्यबोध एवं विवेचन तत्कालीन परिस्थितियों से मुक्त होता है। सौन्दर्य एवं सौन्दर्यबोध कोई शाश्वत भाव या मूल्य नहीं है। वह युगानुकूल परिवर्तित होता रहता है। किसी भी युग विशेष की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ ही उस युग के सौन्दर्यबोध के आदर्श को निरूपित करती हैं।

हिंदी कविता का इतिहास देखें तो छायावादी कविता का सौन्दर्य 'आत्मपरक' है, तो प्रगतिवाद का 'वस्तुपरक'। प्रयोगवाद और नई कविता की सौन्दर्य दृष्टि 'अस्तित्ववाद एवं फ्रायडीयन दर्शन' पर केन्द्रित है। लेकिन समकालीन कविता के साथ ऐसा नहीं है। जिस प्रकार उसके कथ्य में विविधता है, उसी प्रकार उसकी सौन्दर्य दृष्टि भी अलग-अलग है, क्योंकि उसमें कई पीढ़ियों के कवि सक्रिय हैं। प्रत्येक दशक की अपनी विशिष्टता एवं परिस्थिति है और उसका सौन्दर्यबोध उसी के अनुरूप है। समकालीन दौर की कविताएँ जीवन संघर्ष की कविता हैं और यह संघर्ष ही इन कविताओं का सौन्दर्य है। समकालीन कविता केवल 'पोएम ऑन द पेज' नहीं है, बल्कि उसका विश्लेषण तात्कालिक परिस्थितियों के प्रभाव से 'समग्रता' में किया जाता है। यहाँ समग्रता का अर्थ उस दृष्टिकोण से है जिसमें 'ज्ञान व कर्म' 'तथ्य व मूल्य' 'नैतिकता व व्यावहारिकता' तथा 'सत्य व असत्य' के अन्तर्विरोधों से मुक्त होकर वस्तु, समाज

और जीवन से है। समकालीन कविता का सौन्दर्य जहाँ एक ओर रागात्मक प्रेम संबंधों, वात्सल्य एवं करुणा में है, वहीं दूसरी ओर सद्यः घटित घटनाएँ एवं तात्कालिक राजनैतिक परिस्थितियाँ भी इसके सौन्दर्य का निर्धारण करती हैं।

धूमिल, शलभ श्रीराम सिंह, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले आदि कवियों ने युयुत्सावादी सौन्दर्य को कविता में वर्णित किया है। नकारात्मक-निषेधात्मक सौन्दर्य को उद्‌घाटित करने वाले कवियों में श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, मोना गुलाटी, सौमित्र मोहन आदि का नाम उल्लेखनीय है। मांसल रागात्मकता, आत्ममुग्ध रोमांटिकता, अभिजात्यवादी प्रेम, सेंसुअल लगाव में राजकमल चौधरी, गिरिजाकुमार माथुर आदि कवियों ने सौन्दर्य देखा है। आलोकधन्वा, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, कुमार विकल, विजेन्द्र, वेणुगोपाल, ज्ञानेन्द्रपति आदि कवियों ने वैचारिक प्रतिबद्धता को सौन्दर्य का प्रतिमान माना है।

समकालीन कवियों की सौन्दर्यबोधी दृष्टि आम भारतीय जनमानस के अंतर्द्वन्द्व जैसे-ऊब, खीझ, चुभन, चिंतनशील सोच के मनोभावों को उद्‌घाटित करती है। यह कविता शोषित, पीड़ित वर्ग की अन्तर्जटिलताओं में भी सौन्दर्य का दर्शन करती है। इन कवियों ने भारतीय मध्य वर्ग की मानसिकता, पारिवारिक स्थिति एवं आत्मीय संबंधों के चित्र भी काव्य में प्रस्तुत किये हैं। परिवेशगत प्रकृति और यथार्थ से संश्लिष्ट इनकी रचनाएँ कलात्मक प्रतिबिंबन का आदर्श उदाहरण हैं। यथार्थ के प्रति तीव्र आग्रह के कारण कवियों को प्रकृति की चिंता है। समकालीन कवियों का प्राकृतिक चित्रण वर्तमान यांत्रिक जीवन पर तीक्ष्ण प्रहार करता है। ये कविताएँ शुद्ध रूप से प्राकृतिक हैं, जिसमें मानव कल्याण की कामना और उसके विकास की भावना निहित है। समकालीन कवियों ने प्रकृति की असंगतियों को कविता का विषय बनाया है। इन कविताओं में प्रदूषण, भूकंप, भूस्खलन, अकाल, सूखा, बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदाओं के दृश्य विद्यमान हैं। नदियों के उद्‌गम स्थल, पर्वत, पठार, वृक्ष, वृक्षोन्मूलन, मृदा क्षरण, औषधि वनस्पतियों का लोप इन सब पर समकालीन कवियों की दृष्टि गयी है। इन कवियों ने सुंदर का चित्रण तो किया ही है, साथ ही असुंदर का उद्‌घाटन भी किया है। प्रकृति के मानवीकरण भी इस दौर की कविताओं में दृष्टिगत होता है। समकालीन कविता के लिए प्रकृति संवेदन का अंग है। संवेदनशीलता से युक्त कवि बाजार जाने वाले व्यक्तियों से आग्रह करता है कि वे बाजार जाने की बजाय उन खेतों में जाये जहाँ धान लहरा रहे हों-

''क्यों न ऐसा हो कि आज शाम
हम अपने थैले और डोलचियाँ
रख दें एक तरफ
और सीधे धान की मंजरियों तक चलें

हम सीधे वहीं पहुँचे
एकदम वहीं
जहाँ चावल
दाना बनने से पहले
सुगंध की पीड़ा से छटपटा रहा हो।"[४]

समकालीन कवियों का एक वर्ग ग्रामीण व कस्बाई संवेदना से सम्पृक्त है। इस संवेदना से युक्त ये कवि महानगरीय जीवन की त्रासदी को रूपायित करते हुए कविता में लोक-संरक्षण की भावना व्यक्त करते हैं। इस कविता में लोकमानस का भी प्रतिबिम्ब है। कई कवियों ने तो लोक के शब्द, स्वर, लय व लहजा को ज्यों का त्यों अपनी कविता में उतार दिया है। समकालीन कविता में लोक प्रचलित मान्यताएँ, रीति-रिवाज, व्रत-उत्सव, अंधविश्वास सब कुछ समाहित हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने अपनी कविताओं में ग्रामीण जीवन के सुंदर चित्र खींचे हैं। लोकभाषा, लोकलय एवं लोकजीवन से उनकी कविता की अन्तर्वस्तु निर्मित होती है जिसका सौन्दर्य भी लौकिक है। सीधी-सरल भाषा में मटकों, गठरी व लकड़ी आदि शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने समकालीन कविता को लोक के निकट किया-

"यही से मटके लिए एक-एक अहीरों को
जाते देखता हूँ
कभी-कभी किसी के सिर पर लकड़ियों के बोझ भी
होते हैं
या गठरियाँ, खरीदे सौदे-सुलुफ की
उनकी परछाईयाँ शान्त हरे जल पर अच्छी लगती हैं।"[५]

समकालीन कविता विविध पीढ़ी की कविताओं का समुच्चय है। हर पीढ़ी या दशक का सौन्दर्यबोध पूर्ववर्ती पीढ़ी के सौन्दर्यबोध से भिन्न है। समकालीन कवि जहाँ विद्रोह, मोहभंग, अकविता की युयुत्सा व मृत्युबोध में सौन्दर्य देखने के साथ-साथ विचारधारा में भी सौन्दर्य देखता है। वह सामाजिक यथार्थ को कविता में रखकर उन विसंगतियों पर प्रहार करता है, जो मानवीय शोषण के लिए जिम्मेदार हैं। समकालीन कविता सशस्त्र क्रांति, नक्सलवादी विद्रोह, भ्रष्ट राजनीति, राजनेताओं की दल बदली, सत्ता व्यवस्था का नैतिक पतन, पूँजीवाद और सत्ता का गठजोड़ आदि विषयों पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण जनवादी कवि शोषण की विविध छवियों का अंकन करते हुए कारुणिक हो जाता है। वह शोषकों के उस षड्यंत्र को उजागर करता है, जो शोषितों को समूल नष्ट कर देना चाहती है ताकि क्रांति संभव न हो सके। इसके लिए कवि गर्भवती स्त्री के हत्या का बिंब अपनी कविता में खींचता है जहाँ उसके गर्भ में गोली मार दी जाती है ताकि ईमानदार आदमी पैदा

न हो सके-

"अब मेरी कविता एक ली जा रही जान की तरह बुलाती है,
भाषा और लय के बिना, केवल अर्थ में-
उस गर्भवती औरत के साथ
जिसकी नाभि में सिर्फ इसलिए गोली मार दी गयी
कि कहीं एक और ईमानदार आदमी पैदा न हो जाय।"[६]

समकालीन कविता का रागात्मक बोध शैया, घर, प्रेमिका, परिवार, समाज, राष्ट्र व विश्व की असीम सीमाओं तक सौन्दर्य का दर्शन करता है। उसकी दृष्टि सौन्दर्य के भोगपरक स्वरूप तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह उदात्त और गरिमाशील है। वह जीवन संघर्ष को द्वन्द्व-अंतर्द्वन्द्व के साथ अभिव्यक्ति करता है, समसामायिक विसंगतियों को उद्‌घाटित करते हुए मानवीयता और कलात्मकता का पक्ष लेता है। इसकी सौन्दर्यानुभूति मनुष्यता की सौन्दर्यानुभूति है। इसके सौन्दर्यबोध का संबंध जड़ीभूत अभिजात्यवर्गीय सोच से नहीं होता। यह वर्गीय अभिरूचियों के सौन्दर्य को 'डिक्लास' करने वाली कविता है। समकालीन कविता के सौन्दर्यबोध पर रोहिताश्व लिखते हैं कि-"समकालीन कविता- एस्थेटिक-एक्शन, एस्थेटिक प्रोसेस की सौन्दर्यबोधात्मक कर्म-प्रक्रिया की कविता है।"[७]

समकालीन कविता की अन्तर्वस्तु को समृद्ध करने के लिए कवियों ने रूपगत, शैलीगत, मिथक, फैण्टेसी, आद्यबिम्ब, प्रतीक, उपमान, लय आदि काव्यात्मक अवयवों का प्रयोग किया है। वस्तुतः ये अवयव कविता की सम्प्रेषणीयता में सहायक हैं और इन्हीं अवयवों के माध्यम से पाठक कविता का सौन्दर्य ग्रहण करता है। समकालीन कवि केवल वास्तविक पाठक को सम्बोधित करते हुए नहीं लिखता है, बल्कि वह संभावित पाठकों के सौन्दर्यबोधीय चेतना को भी ध्यान में रखकर लिखता है।

समकालीन कविता वैयक्तिक रूप से हमारी संवेदनाओं को संस्कारित करती है। चूँकि संवेदनाओं का संबंध मनोवृत्तियों से होता है इसलिए वह मनुष्य के आकर्षण को तुष्ट कर उसे सौन्दर्यानुभूति के स्तर तक ले जाती है। सौन्दर्यबोध वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में अंतर्निहित विसंगतियों, विडंबनाओं एवं विषमताओं के प्रति पाठक को भावात्मक रूप से सचेत करते हुए संवेदना की सीमा का विस्तार करती है। समकालीन कवियों ने मानव जीवन के अनुभवों को काव्यबद्ध किया है। जो घटनाएँ, गतिविधियाँ, परिस्थितियाँ, प्रसंग, पात्र उनके भाव को झंकृत करने में सक्षम हुए, कवियों ने उसे काव्य का विषय बनाया। इन कवियों का सौन्दर्यबोध समकालीन परिप्रेक्ष्य में 'यथार्थमूलक' है। काल के प्रवाह में सौन्दर्य दर्शन के संदर्भ में द्रष्टा की दृष्टि परिवर्तित हो जाती है, किंतु सौन्दर्य परिवर्तित नहीं होता। अलग-अलग भावों के अनुसार वह अलग-अलग रूपों में दृष्टिगोचर होता है। वह गत्यात्मक एवं संचरणशील है।

किसी वस्तु में निहित गुण की पराकाष्ठा ही उसका सौन्दर्य है, जो द्रष्टा को प्रभावित करता है। छायावादी सौन्दर्य की पराकाष्ठा आत्मगत, मनोगत भावों से सम्पृक्त थी। प्रगतिवादी सौन्दर्य वैचारिक प्रतिबद्धता में निहित था। प्रयोगवादी कविता का सौन्दर्य उपेक्षित जातिवाचक संज्ञाओं के बीच दृष्टिगत हुआ। समकालीन कविता के सौन्दर्य की पराकाष्ठा मानवीयता में दृष्टिगत हुई। समकालीन कविता की सौन्दर्यानुभूति विषय की विविधता की भाँति ही वैविध्यमयी है। इस कविता के पूर्व सुंदर को सुंदर कहने का साहस तो सभी ने किया, किंतु अशोभन को शोभन, असुंदर को सुंदर कहने का, उपेक्षित निरीह जनता को स्वीकार करने का कार्य समकालीन कवियों ने ही किया है। संवेदनशीलता से युक्त समकालीन कवि मजदूर के पसीने में, श्रमिकों के संघर्ष में सौन्दर्य का दर्शन करता है। चूँकि वह यथार्थ का भोक्ता है, इसलिए वह 'कर्ममय जीवन' में सौन्दर्य देखता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. शर्मा, रामविलास, आस्था और सौन्दर्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-२०१६, पृ.सं-१६

२. बांदिवडेकर, चन्द्रकान्त, कविता की तलाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-२०१०, पृ.सं.-८३

३. वही, पृ.सं.-६१

४. सिंह, केदारनाथ, अकाल में सारस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-१६६०, पृ.सं.-१३

५. सक्सेना, सर्वेश्वरदयाल, कुआनो नदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-२०१५, पृ.सं.-१५

६. धन्वा, आलोक, दुनिया रोज़ बनती है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण-२०२०, पृ.सं.-३१

७. रोहिताश्व, समकालीन कविता और सौन्दर्य-बोध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-१६६६, पृ.सं.-१५५

भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-११००६७
ई-मेल-nupadhyay200@gmail-com

भारतीय नवजागरण के सन्दर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी की पत्रकारिता का योगदान

–आनन्द तिवारी

भारतीय नवजागरण

विश्व में 'नवजागरण' का उदय मध्य युग का अंत आते-आते हुआ। किसी भी युग में विचार तथा व्यवहार के स्तर पर होने वाली नवीन चेतना या जागृति को ही नवजागरण कहा जाता है। नवजागरण का भाव-विन्यास समाज के जागरण से है। जागरण का अर्थ है-मानवीय प्रज्ञा की चेतन अवस्था जिसमें मनुष्य, क्या सही है? क्या गलत है? इसका निर्धारण बौद्धिक स्तर पर करने में सक्षम होता है। एक तरह से जागरण का अर्थ सक्रियता से जोड़कर देखा जाता है, जिसमें मनुष्य अपनी बौद्धिकता का प्रयोग विषय वस्तु के अन्वेषण के लिए करता है न कि उसे उसी रूप में सहजता से स्वीकार कर लेता है जिस रूप में वह उसके समक्ष उपस्थित रहती है। यह भावों के उद्वेलन से जुड़ा हुआ है, जिसमें समस्त वैचारिक क्रांतियां समाहित हैं। इस जागरण का अर्थ सोते हुए व्यक्ति का नींद से जागना नहीं है। हालांकि अभिधा शब्द शक्ति के अंतर्गत अर्थ निरूपण करने पर सामान्य अर्थ इसका यह भी दिया जा सकता है परंतु लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियों के अंतर्गत इस जागरण का अर्थ अत्यंत व्यापक हो जाता है, जो इंगित करता है सकारात्मक वैचारिकता से उपजी साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय चेतना को। जागरण को हमारे यहां भारत में भक्ति से जोड़कर एक परंपरा चलती है, जिसे रात्रि जागरण कहते हैं। इस जागरण में व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह रात भर जागकर दैवध्देवी विशेष की आराधना करता है, और इस आराधना का मूल तत्व आध्यात्मिक चेतना से जुड़ा हुआ होता है जो कि भारतीय संस्कृति की समुन्नतता का सार्थक प्रतीक है।" लाक्षणिक अर्थ में 'जागरण' वह अवस्था है जिसमें किसी जाति, देश, समाज को अपनी वास्तविक परिस्थितियों और उनके कारणों का ज्ञान हो जाता है और वह उन्नति और रक्षा के लिए सचेष्ट हो जाता है।"[1]

नवजागरण का प्रारंभ संभवतः चौदहवीं शती में इटली में माना जाता है। पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा सोलहवीं सदी के प्रारंभ में यह इटली में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा, और बाद के दिनों में फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड, स्पेन में इसका विकास एवं पतन हुआ। यूरोप में १४वीं

सदी से १७वीं सदी के मध्य होने वाले सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों ने वहां पर पुनर्जागरण या नवजागरण की भूमिका निभायी। भारत में भी १९वीं सदी में एक नवीन वैचारिक चेतना ने देश की सुसुप्ति को तोड़कर उसे नई स्फूर्ति प्रदान की, इसे कई नामों से अभिहित किया गया- पुनर्जागरण, पुनरुत्थान, नवोत्थान, समाज-सुधार,रेनेसां आदि। हिंदी में पहली बार इस शब्द का प्रयोग हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा किया गया। १९७७ में उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में नवजागरण के साथ ही हिंदी नवजागरण की अवधारणा भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। "रेनेसां मूलतः फ्रेंच भाषा का शब्द है, इसका शाब्दिक अर्थ है- पुनर्जन्म (REBIRTH)।"[२] इस शब्द का प्रयोग यूरोप में १४वीं सदी से १७वीं सदी के मध्य होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक परिवर्तनों के लिए किया जाता है। ''रेनेसां की कल्पना के प्रचार का श्रेय इटली के नवजागरण के प्रथम इतिहासकार वर्कहार्ट की है, यद्यपि रेनेसां मिशेसैट ने १९वीं सदी के पूर्वार्ध में किया था।''[३] इस प्रकार यूरोप में रेनेसां एक सांस्कृतिक-ऐतिहासिक अवधारणा है।पुनर्जागरण अंग्रेजी भाषा के शब्द 'रिवाइवलिज्म' के लिए रूढ़ हो गया है। इसका अर्थ है-अतीत की किसी प्रवृत्ति, विचार, मूल्य, परंपरा को पुनः प्रतिस्थापित करना।यह दूषित अर्थ देता है जो भी व्यक्ति आज के सत्य को अनूदित करके भूतकाल की मरी हुई बातों को दोहराता है, उसे हम पुनर्जागरणवादी कहते हैं या रिवाइवलिस्ट कहते हैं। और पुनर्जागरण होना समष्टि में सकारात्मकता से भिन्न है। किंतु नवजागरण में अतीत की बातें दोहराई जाती हैं नवजागरण पुनर्जागरण नहीं अपितु सत्यों का पुनर्जन्म है।

इस तथ्य को पुष्ट करते हुए शंभुनाथ लिखते हैं- ''भारतीय नवजागरण आमतौर पर १९वीं सदी में राजा राममोहन राय के समय से लेकर १९२०-२१ के राष्ट्रीय असहयोग आंदोलन तक के दौर को कहा जाता है। इस बौद्धिक हलचल का संबंध मुख्यतः नए युग के संगठित धार्मिक, सांस्कृतिक सुधारों से है। इस युग में बुद्धिवाद की नींव पर नई मानवता का निर्माण शुरू हुआ। इसके अलावा, देश की राष्ट्रीय भाषाओँ की उन्नति १९वीं सदी की देन है। प्रिंट मीडिया ने ज्ञान पर एक खास समुदाय का एकाधिकार खत्म कर उसे सर्व सुलभ बना दिया। सभी जातीय भाषाओं में पत्र-पत्रिकाएं निकलने लगीं विभिन्न प्रांतो में बहसें होने लगीं और तथ्य उपस्थित कर प्रश्न खड़े किए जाने लगे। तर्क के तूफान आए। कलाओं की और साहित्य की उन्नति हुई। विज्ञान का महत्व बढ़ा। शहर में नागरिक वृत्त बनने लगे, इतिहास की समझ बढ़ी। आज आमतौर पर लोगों की स्मृति से नवजागरण की यह घटनाएं बाहर हैं। कहना न होगा कि भारतीय नवजागरण यूरोपीय 'रेनेसां' से एक अभिन्न मामला है। यह भिन्नता स्वाभाविक है, क्योंकि एक तो यूरोपीय 'रेनेसां' की तरह इसे ४-५०० सालों का लंबा

समय नहीं मिला। दूसरे, भारतीय नवजागरण दमन मूलक औपनिवेशिक माहौल में आया जब देसी उद्योग-धंधे ही उजाड़े नहीं गए, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर भी भारी पाबंदी थी। इसलिए इस देश के नवजागरणमें सामाजिक सुधारों के साथ राष्ट्रीय जागरण भी एक मुद्दा है। मेरी धारणा है कि औपनिवेशिक संदर्भ को देखते हुए नवजागरण को राष्ट्रीय जागरण से अलग करके देखना उचित नहीं है। इसके अलावा १८५७ को नवजागरण का हिस्सा ना मानना भी यूरोपीय कसौटी पर भारतीय नवजागरण को जांचना है। दरअसल राजा राममोहन राय के युग में देश प्रेम की जिस भावना का जन्म हो चुका था उसे राजनीतिक चेतना न समझना एक भूल है। नवजागरण ने आमतौर पर जिस मानवतावाद की लौकिक धारणा का प्रचार किया उसकी एक प्रमुख धुरी बुद्धिवाद है। जिसकी प्रेरणा से आधुनिक शिक्षा, प्राचीन ज्ञान के नए प्रयोग और संगठित सामाजिक सुधारो के बल पर १९वीं सदी में भारत की सभ्यता में एक मोड़ आना शुरू हो गया यह अभूतपूर्व था। यह जरूर है कि प्रादेशिक विशिष्टता और सामाजिक विषमता की वजह से भारतीय नवजागरण में विविधता है।उसके किसी एक रूप को सर्वोपरि या अंतिम नहीं माना जा सकता है।''[४] भारतीय नवजागरण के जनक राजाराममोहन राय जी माने जाते हैं। ''भारतीय नवोत्थान की धारा में छोटे-बड़े अनेक व्यक्तित्व उत्पन्न हुए हैं। यह धारा अब भी प्रवाह में है और आज भी ऐसे व्यक्तित्वों का आविर्भाव अवरुद्ध नहीं हुआ है। किन्तु, इन सारे व्यक्तित्वों के आध्यात्मिक पिता राममोहन राय हैं।''[५]

भारत में नवजागरण की चेतना का सूत्रपात जिस काल खंड में हुआ वह भारतीयों की गुलामी का समय था। भारत के लोगों के ऊपर बाहर से आये ब्रिटिश आक्रमणकारियों का शासन था। भारतीय नवजागरण कि पृष्ठभूमि के संदर्भ में रामधारी सिंह दिनकर जी का ये कथन दृष्टव्य है- ''गीता का यह वचन ठीक है कि जब-जब धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान होता है तब-तब संसार में ऐसी आत्माएं अवतीर्ण होती हैं जिन्हें अवतार कहते हैं। संत और सुधारक, मुख्यतः अपने ही समय की शंकाओं का उत्तर देने को आते हैं। उन्नीसवीं सदी के पूर्व, भारत में जोभी समाज सुधारक संत हुए, उनका एक मात्र विषय धर्म था, क्योंकि धर्म ही तत्कालीन समाज की मुख्य सांस्कृतिक धारा थी एवं राजनीति और समाज की चेतना उसके वृत्त के बाहर की चीज थी अथवा यह कहना चाहिए कि राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना उतनी नहीं बढ़ी थी कि वह धर्म को भी प्रभावित करे। किन्तु, उन्नसवीं सदी तक आकर समस्या का स्वरुप बदल गया और जो धर्म पहले अपने आप में पूर्ण समझा जाता था उसकी जाँच अब सामाजिकता की कसौटी पर की जाने लगी।''[६] वैश्विक औद्योगिक क्रांति के भारत में आगमन के पश्चात लोगों के मन में नए विचार, नई सोच का संचार होने लगा। विज्ञान के विकास होने के कारण मन से अंधविश्वास हटने लगा तथा लोग हर विषय को तर्क

की कसौटी पर कसने लगे। यही भारतीय नवजागरण का प्रमुख आधार बना। नवजागरण की मूल धारणा सुधार से पोषित होती है, इसमें नए और अच्छे विचारों को ग्रहण करने कि प्रवृत्ति जरुर होती है पर अपने मूल्यों को त्यागकर नहीं अपितु उसमें संसोधन करके। इस सन्दर्भ में दिनकर जी आगे लिखते हैं- ''भारत में नवोत्थान का जो आन्दोलन उठा उसका लक्ष्य अपने धर्म, अपनी परंपरा और अपने विश्वासों का त्याग नहीं, प्रत्युत यूरोप की विशेषताओं के साथ उनका सामंजस्य बिठाना था। भारत में यूरोपीय ज्ञान के आगमन के बाद भारतीय धर्मों की जो आलोचना चलने लगी थी, उसका भी मुख्य कारण यह नहीं था कि हिन्दू धर्म और इस्लाम इसाईयत के सामने तुच्छ थे अथवा भारतीय धर्मो कि त्रुटियां ईसाई धर्म में नहीं थी।इस आलोचना कि प्रेरणा इस बात से मिल रही थी कि ईसाई धर्म चाहे कैसा भी रहा हो, किन्तु ईसाई समाज हिन्दू और मुस्लिम समाज से अधिक जाग्रत, अधिक कर्मठ, अधिक उन्नत एवं उदार था। भारत यूरोप के साथ आने वाले धर्म से नहीं डरा, डर उसके विज्ञान को देखकर हुआ उसकी बुद्धिवादिता, साहस और कर्मठता से हुआ। अतः भारत में नवोत्थान का जो आंदोलन उठा उसका लक्ष्य अपने धर्म अपनी परम्परा और अपने विश्वासों का त्याग नहीं, प्रत्युत यूरोप की विशिष्टताओं के साथ उनका सामंजस्य बिठाना था।''[७] नवजागरण यानी कि किसी नए युग की उत्पत्ति जिस तरह आज के आधुनिक युग में हम जैसे बदलाव की उम्मीद करते हैं, बदलाव की प्रक्रिया नवजागरण कहलाता है। किसी भी क्षेत्र मे ंबदलाव एक व्यक्ति द्वारा नहीं अपितु समाज के समर्थन से ही संभव है। भारतीय नवजागरण में पत्र- पत्रिकाओं की बड़ी महती भूमिका रही। नवजागरण में सशक्त सेनानियों के हाथों में पैनी हथियार के रूप में उस जमाने की पत्र-पत्रिकाओं ने महती भूमिका निभाई।

भारतीय नवोत्थान का एक प्रधानलक्षण अतीत की गहराइयों का अनुसंधान था। भारत के उत्तर और दक्षिण में नवजागरण का आविर्भाव करीब एक ही समय में हुआ है।भारत में नवजागरण का पहला अनुभव बंगाल ने किया है। भारतीय पत्रकारिता की जन्मभूमि भी बंगाल ही है और हिंदी पत्रकारिता का जन्म और विकास कलकत्ता में ही हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार १८५७ का पहला स्वाधीनता संग्राम हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है, दूसरी मंजिल भारतेन्दु युग। तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है।जब समस्त दक्षिण पश्चिम भारत में विभिन्न विद्वानों द्वारा जनमानस में चेतना के दीप जलाए जा रहे थे तब उत्तर भारत में भी राष्ट्रीयता, देशभक्ति, अपनी संस्कृति की रक्षा के प्रति जनमानस में जागरण हो रहा था। इसका प्रमुख कारण यूरोप की राष्ट्रीय भावना थी। पहले भारत में जो छोटे-छोटे राज्य के राजा आपस में लड़-मर रहे थे, वे अब एकजुट होने लगे, १८५७ की क्रांति उसी भावना का उद्‌गार थी। राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती,

रामकृष्ण परमहंस, एम.जी. रानाडे, विवेकानंद, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोखले, तिलक एवं अन्य कई महान संतों ने और विद्वानों ने समस्त भारत को अपने विचारों से बहुत प्रभावित किया, समस्त भारत में जागरण की एक क्रांति-सी दौड़ गई। वेद को छोड़कर कोई अन्य धर्म ग्रंथ प्रमाण नहीं है, इस सत्य का प्रचार करने के लिए स्वामी दयानंद सरस्वती जी ने सारे देश का दौरा प्रारम्भ किया और जहां जहां वे गए, प्राचीन परम्परा के पंडित और विद्वान उनसे हार मानते गए।। इन समस्त विद्वानों और संतों ने संपूर्ण विश्व के समक्ष भारतीय संस्कृति के महत्व को स्थापित किया।

भारतीय नवजागरण के आलोक में माखनलाल चतुर्वेदी की पत्रकारिता

भारतीय नवजागरण की पृष्ठभूमि के सूक्ष्म अध्ययन से यह नतीजा निकलता है कि पत्र-पत्रिकाओं के बिना भारतीय नवजागरण शायद संभव ही नहीं होता। इस परिप्रेक्ष्य में पत्रकारिता को समझना जरूरी है- ''मानव जो कुछ भी देखता है उसे अन्य व्यक्तियों को बतलाना चाहता है, साथ ही सब की बातों को जानना चाहता है। किसी घटना को परखना, उसे दूसरों को बतलाना, उस पर विचार-विमर्श करना मानव-आत्मा की एक सहज प्रवृत्ति है। इसी भावाभिव्यक्ति की प्रवृत्ति के कारण जन माध्यम का आविष्कार हुआ। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ज्ञान प्राप्ति की उत्कंठा, चिंतन एवं अभिव्यक्ति की आकांक्षा ने भाषा को जन्म दिया ठीक उसी प्रकार समाज में एक दूसरे के कुशल-क्षेम जानने की प्रबल इच्छा-शक्ति ने पत्रों के प्रकाशन को बढ़ावा दिया। पहले ज्ञानरूपी दिव्य-शक्ति सुविधा प्राप्त लोगों की थाती थी। उसे पत्रकारिता द्वारा सर्वसुलभ कराया गया। इस प्रकार परिस्थितियों के अध्ययन, चिंतन-मनन और आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति तथा 'सब जनहिताय सब जनसुखाय' के प्रति व्यग्रता ने पत्रकारिता को जन्म दिया।''[८]

पत्रकारिता एक माध्यम है जिसके द्वारा अपने विचारों को जनसमूह तक बड़ी आसानी और सरलता से पहुँचाया जा सकता है। बीसवीं सदी में राष्ट्रीयता की भावना तेजी से उभरी देशवासियों ने ब्रिटिश शासन की दुर्भावना को समझा और देश की एकता और आवश्यकता को गहराई से महसूस किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की वजह से संपूर्ण भारत में राजनीतिक चेतना का प्रसार हो रहा था। दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी का अहिंसात्मक प्रतिरोध सफल रहा जिसने भारतीयों को मानसिक बल प्रदान किया। देश में एक नए उमंग की लहर दौड़ गई। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार १८५७ का पहला स्वाधीनता संग्राम हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल भारतेंदु हरिश्चंद्र का युग है। तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है। इन सभी कालों की प्रमुख पत्रिकाएं- संवाद कौमुदी, बंगदूत, समाचार-सुधावर्षण, भारत-मित्र, उचित-वक्ता, हरिश्चंद्र

मैगजीन, सरस्वती इत्यादि का प्रमुख योगदान है। पत्रकारिता के क्षेत्र में जागरण की आवश्यकता इसलिए थी कि पत्रिकाओं को पाठक तत्काल मिल जाते हैं और संपूर्ण भारत में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना को फैलाने के लिए पत्रिकाएं सबसे अच्छा माध्यम बन सकती थी और हुआ भी यही पत्रिकाओं ने अपनी महत्ता स्थापित की और संपूर्ण भारत में चेतना का प्रसार करने में बड़ा योगदान दिया।

भारतीय पत्रकारिता की जन्मभूमि बंगाल है और हिंदी पत्रकारिता का जन्म और विकास भी कलकत्ता में ही हुआ। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध की समग्र जातीय चेतना को आत्मसात कर भारतीय समाज के सांस्कृतिक और राजनीतिक उन्नयन में सक्रिय योग देने वाले कलकत्ता के समाचार पत्रों में भारत-मित्र, सार-सुधानिधी और उचित-वक्ता आदि की महती भूमिका है।भारतीय समाज में राजनीतिक संस्कार और चेतना जगाने का श्रेय इन पत्रों को है।भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अनेक पत्रकारों ने अपूर्व त्याग व बलिदान दिया। प्रारम्भ से ही हिंदी पत्रकारिता अपने ऊँचेआदर्शों का पालन करती आ रही है। नवजागरण कालीन पत्रकारिता के सन्दर्भ में डॉ. मीरारानी बल लिखती हैं- ''भारतीय इतिहास में उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी राष्ट्रीय-नवजागरण एवं सुसंगठित जनमत के अंकुरण का काल था। संपूर्ण देश पश्चिमीकरण, वैज्ञानिक संचार-साधनों एवं सांस्कृतिक-राजनीतिक परिवर्तनों से संबंधित था। इसी परिवेश में राष्ट्रीय चेतना के साथ राष्ट्रीय पत्रकारिता का प्रस्फुटन हुआ। प्रारंभिक हिंदी पत्रकारिता भी भारतेंदु हरिश्चंद्र के उदय के साथ नव-आकार, नव-भंगिमा, नव-राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करने लगी थी।''[६] इसी अवसर पर माखनलाल चतुर्वेदी जी पत्रकारिता के क्षेत्र में अवतरित हुए। श्री माखनलाल चतुर्वेदी जी ऐसे पत्रकार थे जिनका व्यक्तित्व शत-शत अवरोधों के सामने न तो झुका और न ही बिका। श्री चतुर्वेदीजी ने अपनी पत्रकारिता के माध्यम से सांस्कृतिक चेतना को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ दिया तथा राष्ट्रीय चेतना का क्रांतिकारी स्वरूप प्रस्तुत किया।

माखनलाल चतुर्वेदी जी का जन्म १८८६ को ब्रिटिश इंडिया में हुआ था। तात्कालिक समय में उनका जन्म स्थान बाबई है जो कि होशंगाबाद में आता है। माखनलाल चतुर्वेदी के जन्म के समय भारत पर अंग्रेजों का शासन था एवं तब स्वाधीनता के लिए संघर्ष चल रहा थाऔर माखनलाल ने भी यह समझ आते ही देश हित में कार्य करना शुरू कर दिया। माखनलाल जब १६ वर्ष के हुए तब ही स्कूल में अध्यापक बन गए थे।उन्होंने १९०६ से १९१० एक विद्यालय में अध्यापन का कार्य किया लेकिन जल्द ही माखनलाल ने अपने जीवन और लेखन कौशल का उपयोग देश की स्वतंत्रता के लिए करने का निर्णय ले लिया उन्होंने असहयोग आन्दोलन और भारत छोड़ो आन्दोलन जैसी कई गतिविधियों में भाग लिया, इसी

क्रम में वे कई बार जेल भी गए और जेल में कई अत्याचर भी सहन किए, लेकिन अंग्रेज उन्हें कभी अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सके।

डॉ. कृष्णदेव शर्मा लिखते हैं- ''पद्म भूषण माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यकार, प्रणय और प्रलय के उन्मुक्त गायक, हिंदी छायावादी कविता के आदि-प्रवर्तक, यथार्थवादी कहानीकार, उत्कृष्ट गद्यकार, प्रभावक नाटककार, उच्चकोटि के भाषण कर्ता, निर्भीक संपादक, स्वातंर्त्य समर के सेनानी, तरुण साहित्यकारों के प्रेरणा स्रोत, दिशा-दाता, स्वर-पाथेय थे।''[१०]

हिन्दी कविता की समस्त काव्य धाराओं में राष्ट्रीय काव्य धारा का विशिष्ट महत्व है। राष्ट्रीय कविताओं द्वारा राष्ट्र के भिन्न-भिन्न वर्गों, संप्रदायों और प्रांतों में भावात्मक एकता के विचार पुष्ट होते है।राष्ट्रीय कविताएं जाति, समाज और प्रांतीयता की संकीर्ण भावना मिटाती हैं, जनसामान्य के हृदय में कर्तव्य की भावना जगाती हैं। इन्हीं कविताओं से प्रेरणा पाकरअनेक वीरों ने हंसते-हंसतेअपने जीवनको देश की आजादी के लिए अर्पित कर दिया। माखनलाल जी का जीवन और साहित्य दोनों ही राष्ट्र सेवा में अर्पित था।अपने जीवन में वे राष्ट्रीय आंदोलनों में हिस्सा लेते रहे, पहले हिंसावादी क्रांतिकारी दल में दीक्षा लेकर और बाद में गांधी जी के अहिंसात्मक सत्याग्रही बनकर।स्वतंत्रता आंदोलन की सक्रिय प्रेरणा देने की प्रवृत्ति उनके काव्य में ही नहीं बल्कि उनके जीवन में भी मिलती है। जेल यात्रा उनके लिए गौरव यात्रा थी इसलिए उन्होंने कहा- ''क्या देख न सकती जंजीरों का गहना, हथकड़ियां क्यों यह ब्रिटिश राज का गहना।''[११]

राष्ट्रीय काव्य धारा के क्षेत्र में माखनलाल चतुर्वेदी के साथ उनके समकालीन साहित्यकार-मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शर्मा शंकर, रामनरेश त्रिपाठी, रायदेवी प्रसाद पूर्ण, रामचरित उपाध्याय राष्ट्र जागरण के सूत्रधार रहे। राम नरेश त्रिपाठी की निम्न पंक्तियां दृष्टव्य हैं-

''सच्चा प्रेम वही है जिसकी तृप्ति आत्मबलि पर हो निर्भर ।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है करो प्रेम पर प्राण निछावर।।
देश प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें मनुष्यता होती है विकसित।।'' [१२]

१९०५ में माखनलाल जी बम्बई के निकट एक देहात मसन में अध्यापक नियुक्त हुए थे। देश की मिट्टी से ये बचपन से ही जुड़े हुए थे। यही कारण है कि मिडिल परीक्षा देने के लिए जब ये जबलपुर गए तो इनकी पहचान क्रांतिकारी युवकों से हुई।उस समय से ही ये उनकी सहायता करते थे। १९०६ में जब कलकत्ता कांग्रेस में लोकमान्य तिलक पधारे तो माखनलाल

जी भी उनकी सुरक्षा के लिए कलकत्ता गए। वही से लौटते समय उन्होंने क्रांतिकारी नेता देवसकर से काशी में दीक्षा ली।इसके बाद इनका क्रांतिकारियों से संपर्क बढ़ा। इनके संबंधों का क्षेत्र विस्तृत हो चलाथा।सैयद अलीमीर, स्वामी रामतीर्थ , माधवराव सप्रे तथा माणकचन्द जैन का इनपर व्यापक प्रभाव पड़ा।सप्रेजी ने इनमें देश भक्ति की भावना को दृढ़ किया तथा इनके राजनैतिक गुरु बने। गणेश शंकर विद्यार्थी इनके परम मित्र और हितैषीथे।रायबहदुर जी, पं. विष्णुदत्त से इनके अच्छे सम्बन्ध थे।अपने समकालीन समस्त साहित्यकारों में माखनलाल चतुर्वेदी जी काफीप्रसिद्ध थे तथा अपनी वाक्पटुता, निर्भीकता और साहस के कारण सबके साथ इनका अच्छा संपर्क था। समकालीन राजनीतिक व्यक्तियों तिलक, गोखले, नेहरू, गांधी तथा समकालीन समस्त क्रांतिकारियों से भी इनका अच्छा संपर्क था।

माखनलाल जी के साहित्य का मूल स्वर राष्ट्रीयता है, जिसमें त्याग, बलिदान, कर्तव्य भावना और समर्पण का भाव है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को स्वर देने वालों में इनका प्रमुख स्थान है। इनकी शैली में ओज की मात्रा अधिक है। एक उदाहरण दृश्य है-

"चाह नहीं, मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमी-माला में
बिंधप्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर
हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर
चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक!
मातृ-भूमि पर शीश- चढ़ाने,
जिस पथ पर जावें वीर अनेक!"[१३] -युगचरण से

माखनलाल जी अपने समकालीन पत्रकारों, गणेशशंकर विद्यार्थी, माधवराव, कालूराम गंगराड़े तथा अन्य सभी पत्रकारों के घनिष्ट मित्र थे। श्री माखनलाल चतुर्वेदी जी निर्भीक पत्रकार थे।पत्रकार के रूप में उनका व्यक्तित्व शत-शत अवरोधों के सामने न तो झुका न ही बिका। 'प्रभा' का प्रकाशन सन् १९१३ में हुआ। इसके संपादक कालूराम गंगराडे थे। इस पत्रिका ने ही माखनलाल चतुर्वेदी जैसे राष्ट्रीय चेतना के कवि को जगत् के समक्ष प्रस्तुत एवं स्थापित किया। माखनलाल चतुर्वेदी ने इस पत्र को उग्र एवं सशक्त स्वर जागरण का माध्यम

बनाया। उनके शब्दों में- हमारा अनुरोध है कि तुम अन्यायों, अत्याचारों और भूलों के संबंध में जो कुछ लिखना हो, वह दबकर नहीं, खुलकर लिखो।''[१४] १९१३ ई. में जब श्री कालूराम गंगराड़े ने 'प्रभा' मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया तो उन्होंने तीस रुपए मासिक वेतन पर सहायक संपादक के रूप में अपने आप को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया।प्रभा के माध्यम से ही माखनलाल जी ने राष्ट्रीय और सामाजिक जागरण का कार्य सम्पन्न किया। माखनलाल जी ने तन-मन से 'प्रभा' की सेवा की। परन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण प्रभा बारह अंक के बाद बंद हो गई। बंद होने का विशेष कारण था कि मध्य प्रांत में कोई अच्छा प्रेस न था और 'प्रभा' पूना से छपती थी। एक वर्ष बाद गणेश शंकर विद्यार्थी के प्रयासों से 'प्रभा' कानपुर से पुनः प्रकाशित हुई। प्रकाशन व संपादन में वे इतने तल्लीन हो गए कि उन्होंने घर-गृहस्थी के सुखों को त्याग दिया तथा अपनी पत्नी की आहुति भी प्रभा की पत्रकारिता के यज्ञ में चढ़ा दी। परन्तु आर्थिक संकटों के कारण प्रभा पुनः बंद हो गई। पर 'प्रभा' की अकाल मृत्यु भी माखनलाल जी के संकल्प और शक्ति को तोड़ नहीं पाई।

चतुर्वेदी जी की आर्थिक स्थिति का अनुमान उनके स्वयं के इस कथन से लगाया जा सकता है- ''मेरे जीवन का सबसे बड़ा सपना है की अपना भी घर का घर हो और उसमें एक बाथरूम हो। किराए के घर की भी जिंदगी क्या जिंदगी है? हर क्षण लगता है कि कोई है, जो हमसे भी बड़ा है और उसके हम किराएदार हैं।''[१५]

१७ जनवरी १९२० को जबलपुर में साप्ताहिक 'कर्मवीर' निकला इसके प्रधान संपादक श्री सप्रे जी तथा संपादक माखनलाल चतुर्वेदी थे। उन दिनों महात्मा गांधी जनजीवन में कर्मवीर मोहनदास कर्मचंद गांधी कहलाते थे। अतः जनजीवन में नवीन क्रांति उत्पन्न करने के पवित्र उद्देश्य से नए साप्ताहिक का नाम 'कर्मवीर' रखना माखनलाल जी का ही व्यक्तिगत साहस था।कर्मवीर ने देशी रियासतों के दुराचारी राजा महाराजाओं का खूब भंडाफोड़ किया।१७ जनवरी १९२० के पहले ही अंक में चतुर्वेदीजी ने लिखा- ''हमारी आँखों में भारतीय जीवन गुलामी की जंजीरों से जकड़ा दीखता है। हृदय की पवित्रता पूर्वक हर प्रयत्न करेंगे कि वे जंजीरें फिसल जायें या टुकड़े-टुकड़े होकर गिरने की कृपा करें। हम जिस तरह भीरूता नष्ट कर देने के लिये तैयार हेंगे उसी तरह अत्याचारों को भी। किन्तु भीरू और अत्याचारी दोनों ही हमारे होंगे और उनको दुनिया से हटा देने के लिए नहीं, उनकी प्रवृत्तियों को हटा देने के लिये हम उनसे लड़ते रहेंगे। हम स्वतंत्रता के हामी है। मुक्ति के उपासक हैं। राजनीति में या समाज में साहित्य में या धर्म में जहाँ भी स्वतंत्रता का पथ रोका जाएगा, ठोकर मारने वाले का पहला प्रहार और घातक शस्त्र पहला वार आदर से लेकर मुक्त होने के लिये प्रस्तुत रहेंगे।''[१६] १९२० ई० में वे झंडा सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए और नागपुर जेल के अपने कारावास काल में उन्होंने

शहीद सत्याग्रही हरदेव नारायण सिंह की स्मृति में ''झंडे की भेंट'' नामक प्रसिद्ध कविता लिखी थी।

'प्रताप' का संपादन कानपुर से गणेशशंकर विद्यार्थी करते थे।माखनलाल जी उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। जब गणेशशंकर विद्यार्थी को अंग्रेज सरकार ने गिरफ्तार किया, तब माखनलाल जी ने आगे बढ़कर 'प्रताप' के संपादन की जिम्मेदारी संभाली।माखनलाल जी एवं गणेशशंकर विद्यार्थी समकालीन थे और दोनों के विचार राष्ट्रीय भावनाओ की ज्वालामुखी से ओत-प्रोत थे। अतः इनमें घनिष्ठ मित्रता थी। जब 'प्रभा' का प्रकाशन बंद हुआ तब आगे बढ़कर गणेश शंकर विद्यार्थी ने माखनलाल जी का साथ दिया तथा एक वर्ष पश्चात् इनके अथक प्रयासों की वजह से प्रभा पुनः प्रकाशित हुई कानपुर से। ९ नवंबर १९१३ को कानपुर से गणेश शंकर विद्यार्थी जी ने स्वयं अपना हिंदी साप्ताहिक 'प्रताप'निकाला तथा संपादन के लिए समय-समय पर माखनलाल जी से सलाह लेते रहे। 'प्रताप' में लेख लिखने के कारण जब ये जेल गए तब माखनलाल जी ने आगे बढ़कर 'प्रताप' का कार्यभार संभाला। ''स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा रचित सुप्रसिद्ध देशभक्ति कविता पुष्प की अभिलाषा 'प्रताप' अखबार में ही मई १९२२ में प्रकाशित हुई।''[१७] राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत पत्रकारिता के क्षेत्र में ये दोनों एक दूसरे के सहचर थे तथा एक-दूसरे की मदद के लिए तत्पर रहते थे।

माखनलाल जी के समय में जब कांग्रेस के बड़े नेता व विचारक राष्ट्रीयता को राजनीति से जोड़कर देख रहे थे तब माखनलाल और मैथिलीशरण गुप्त जैसे महान व्यक्तित्व के लोग इसे सांस्कृतिक सोच से जोड़ रहे थे। माखनलाल जी ने कहा भारत एक सांस्कृतिक देश हैं जहाँके लोग राष्ट्रीयता कि भावना सांस्कृतिक तरीके से देखते हैं और राष्ट्रीयता जगाने के लिए सबसे अच्छा होगा कि उन्हें उनके गौरव पूर्ण अतीत से अवगत कराया जाय वे क्रांतिकारियों व राजनीतिज्ञों को अलग-अलग दृष्टि से देखते थे।

माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं ने भारतीय समाजको राष्ट्रीय चेतना से न सिर्फ जोड़ने का काम किया बल्कि आदर्श जीवन मूल्यों और भारतीय संस्कृति के तत्वों से भी जोड़ दिया।माखनलाल चतुर्वेदी हिंदी साहित्य के कवि, निबन्ध-लेखक, पत्रकार और वक्ता सब कुछ थे। पत्रकारिता के लिए इनकी स्पष्टता-कर्मवीर के संपादन को लेकर दादा माखनलाल चतुर्वेदी की स्पष्टता को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण प्रसंग है। ''भारतीय भाषाई पत्रकारिता से अंग्रेजी शासन भयंकर डरा हुआ था। भाषाई समाचारपत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन को प्रतिबंधित करने के लिए तमाम प्रयास प्रशासन ने कर रखा था। यदि किसी को भारतीय भाषा में समाचारपत्र प्रकाशित करना है तो उसका अनुमति पत्र जिलामजिस्ट्रेट से प्राप्त करना होता

था। अनुमति प्राप्त करने से पहले समाचारपत्र का उद्देश्य स्पष्ट करना होता था। इसी संदर्भ में माखनलाल जी कर्मवीर के घोषणापत्र की व्याख्या करने जबलपुर गए तब वहां सप्रेजी, रायबहादुरजी, पंडित विष्णुदत्त सहित अन्य लोग उपस्थित थे। जिलामजिस्ट्रेट के पास जाते समय रायबहादुर समझ रहे थे कि माखनलाल जी कुछ बोल नहीं पाएंगे इसलिए उन्होंने उनको एक पत्र दिया था उसमें लिखा था कि मैं बहुत गरीब हूं और उदरपूर्ति के लिए पत्र निकालना चाहताहूं, किंतु माखनलाल चतुर्वेदी सत्य और साहस के हामी थे। उन्होंने यह आवेदन मजिस्ट्रेट को नहीं दिया जब मिस्टर मिथाइस आई.सी.एस. ने पूछा कि एक अंग्रेजी पत्र के होते हुए आप हिंदी साप्ताहिक क्यों निकालना चाह रहे हैं तो उन्होंने बड़ी स्पष्टता से कहा- आपका अंग्रेजी पत्र तो दब्बू है मैं वैसा पत्र नहीं निकालना चाहता मैं ऐसा पत्र निकालना चाहता हूँ कि ब्रिटिश शासन चलते-चलते रुक जाए। मिस्टर मिथाइस, माखनलाल चतुर्वेदी जी के साहस को देखते हुए बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने बिना जमानत राशि लिए ही कर्मवीर निकालने की अनुमति उनको दे दिया।''[१८] यही साहस और बेबाकी चतुर्वेदी जी की पत्रकारिता की पहचान बनी उनकी पत्रकारिता ने आत्मशौर्य और अपराजेय भावना को जन-जन के मन में भरा और लेखकों, कवियों तथा पत्रकारों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार की जिनकी अभिव्यक्ति निरंतर आग से नहाती रही।

निष्कर्ष-

भारतीय नवजागरण की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक काल से मानी जाती है। भौगोलिक दृष्टि से देखने पर भारत के उत्तर और दक्षिण क्षेत्र में नवजागरण का आविर्भाव करीब एक ही समय में हुआ। भारतीय नवजागरण ने जब आंदोलन का स्वरूप ग्रहण किया तब उसके नेतृत्व में राजाराममोहन राय, रविन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी विवेकानंद, श्रीनारायण गुरु जैसे अनेक महापुरुष जुड़ गए। नवजागरण के सशक्त सेनानियों के विचारों और व्यावहारिक कार्यों को जनसामान्य तक पहुंचाने में उस जमाने की पत्र-पत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय नवजागरण की पृष्ठभूमि के सूक्ष्म अध्ययन से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि इन पत्रों और इनको अंग्रेजी शासन के समक्ष सीना तानकर निकालने वाले राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत संपादक जनों के बिना नवजागरण शायद ही सम्भव हो पाता। भारतीय नवजागरण केदृष्टिगत प्रभावों में भारतीय समाज में आधुनिकता के प्रति सहज स्वीकारोक्ति का भाव प्रधान रहा है। भारतीय पत्रकारिता का नवजागरण कालीन एवं वर्तमान स्वरूप इसी आधुनिकता की देन है।

पत्रकारिता के क्षेत्र में श्री माखनलाल चतुर्वेदी का योगदान ऐतिहासिक महत्व का रहा है। उन्होंने 'प्रभा', 'प्रताप' और 'कर्मवीर' के माध्यम से देश और समाज को जागृत करने का

अद्‌भुत कार्य किया। इनकी विद्रोहात्मक लेखनी से शासन घबरा गया था, शासन के खिलाफ सत्य को निर्भीकता से व्यक्त करने की वजह से इन्हे कई बार कारावास का दंड भी दिया गया था। पत्रकारिता के क्षेत्र में ये जिन विभूतियों के आत्मीय सम्पर्क में आएं उनमें प्रमुख थे- श्री माधवराव सप्रे, श्री गणेश शंकर विद्यार्थी, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, महात्मा मुंशीराम तथा पंडित विष्णुदत्त शुक्ल। 'कर्मवीर' सप्ताहिक और प्रभा में माखनलाल जी की जो रचनाएं प्रकाशित हुईं उन्होंने उस समय के हिंदी काव्य में क्रांतिकारी और राष्ट्रीय विचारधारा को एक प्रमुख काव्य प्रवृत्ति के रूप में स्थापित कर दिया। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि चतुर्वेदी जी ने स्वतंत्रता संग्राम की विस्तृत भावभूमि पर राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और उसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने वालों की ऐसी मंडली तैयार की जिसमें अदम्य साहस एवं गहन आत्मविश्वास था।

भारत कि आत्मा कहे जाने वाले चतुर्वेदी जी स्वतंत्रता संग्राम के अदम्य सेनानी थे, पत्रकारिता के क्षेत्र में राष्ट्र के जागरूक प्रहरी थे। कविता के क्षेत्र में राष्ट्र पर बलिदान हो जाने का महान आदर्श प्रस्तुत करने वाले कवि थे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह नवजागरण समस्त भारतीय चेतना का जागरण था जिसमे सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक चेतना, राजनीतिक चेतना, आर्थिक चेतना और राष्ट्रीय चेतना समाहित है। नवजागरण कालीन पत्रकारिता के संदर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी का योगदान अविस्मरणीय है। चतुर्वेदी जी पत्रकारिता की शाश्वत चेतना के प्रतिनिधि पत्रकार हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतीय नवजागरण और यूरोप, हिंदी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९९६, पृष्ठ संख्या-१५
२. इनसाईक्लोपीडिया अमेरिकाना, भाग २३, पृष्ठ संख्या ३६७
३. धीरेन्द्र शर्मा, हिंदी साहित्य कोश, पृष्ठ संख्या-४०३
४. शंभूनाथ, भारतीय नवजागरण : एक असमाप्त सफर, गूगल बुक्स, पृष्ठ संख्या-१५,१६
५. एच० सी० ई० जकारिया, RenascentIndia
६. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,पृष्ठ संख्या-४४२,४४३
७. वही, ४४३
८. डॉ० अर्जुन तिवारी, आधुनिक पत्रकारिता, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००४, पृष्ठ संख्या-२
९. डॉ० मीरारानी बल, राष्ट्रीय नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २००५, पृष्ठ संख्या-९१

१०. संपादक श्रीकांत जोशी,माखनलाल चतुर्वेदी यात्रा-पुरुष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९, पृष्ठ संख्या-७
११. क्षितिज भाग-१, (पृष्ठ ८७) रचनाकार रू माखनलाल चतुर्वेदी प्रकाशन रू एन.सी. ई.आर.टी संस्करण-२०२२
१२. https://www-sarthaks-com/३१४९९१०/
१३. https://www-hindwi-org/kavita/pushp&ki&abhilasha&makhanlal&chaturvedi &kavita&1
१४. https://hi-wikibooks-org/wiki/हिंदीसाहित्यकाविधागतइतिहास/पत्र-पत्रिकाओं का इतिहास
१५. संपादक श्रीकांत जोशी, माखनलाल चतुर्वेदी यात्रा-पुरुष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९, पृष्ठ संख्या- १४
१६. ''कर्मवीर के अग्रलेख रू राष्ट्रीय पत्रकारिता की गरिमा और नैतिक शक्ति के जीवंत दस्तावेज, मूल से २ मई २०१८ को पुरालेखित, अभिगमन तिथि २ मई २०१८
१७. https://hi-wikipedia-org/wiki/:म०।४:।।:म०।५:८क:म०।४:ठ०:म०।४:।४:म०।४:ठम:म०।४:।। ऋ(:म०।४:।।:म०।४:।४:म०।५:८क:म०।४:ठ०)
१८. https://www-rachanakar-org/2019/04/blog&post_93-html

शोधार्थी, हिंदी विभाग
महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय
बड़ौदा, गुजरात
शोध-निर्देशक
डॉ० मायाप्रकाश पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय
बड़ौदा, गुजरात
संपर्कसूत्र- ७५७०९७३२९७, anandtiwari-chandi@gmail-com

⊙

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद की उपलब्धियाँ और देन

–रेशू चैहान

'प्रगति' शब्द का अर्थ है - आगे की ओर बढ़ना, उन्नति, विकास, सुधार आदि। और 'वाद' का अर्थ है- सिद्धान्त। इस प्रकार प्रगतिवाद का अर्थ है- 'आगे बढ़ने का सिद्धान्त'। 'प्रगति' शब्द अंग्रेजी शब्द 'प्रोग्रेस' (Progress) का पर्यायवाची है। सौमित्र के अनुसार - ''प्रगति शब्द का तात्पर्य है, वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ना।''[१]

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में 'प्रगतिवाद' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। इस अर्थ में अगर देखें तो 'प्राचीन से नवीन की ओर', 'आदर्श से यथार्थ की ओर', 'पूंजीवाद से समाजवाद की ओर', 'शांति से क्रांति की ओर', बढ़ना ही 'प्रगतिवाद' है।

प्रेमचन्द ने उन्नति के पर्याय में ''प्रगति'' शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा था-'' उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है। जिससे हममें दृढ़ता और कर्मशक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुरावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गए और उसे दूर करने की कोशिश करें।''[२]

'प्रगतिवाद' मार्क्सवादी विचारधारा के सिद्धान्तनुसार रचित साहित्य है। विभिन्न राजनीतिक मतों के बावजूद एक सामान्य 'मानवतावाद' की भावना व्याप्त है।

'प्रगतिशील लेखक संघ' द्वारा निर्धारित और प्रचलित साहित्य प्रगतिवाद है, और शेष प्रगतिशील साहित्य।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में 'प्रगतिवाद' एक ऐसा काल रहा है, जिसने आधुनिक हिन्दी काव्य जगत् को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि सभी काव्य साहित्य क्षेत्र में, भाषाओं और देशों को प्रभावित किया था। वास्तव में 'प्रगतिवाद' एक विश्वव्यापी साहित्यिक आन्दोलन था। इसलिए अनेक विद्धान इसके प्रभाव और उपयोगिता को देखते हुए, इसे अलग-अलग परिभाषा में परिभाषित करते है। 'प्रगतिवाद' की रूपरेखा को समझने में निम्नांकित परिभाषाएँ सहायक हो सकती है, जो इस प्रकार है-

डॉ. धर्मवीर भारती ने मार्क्सवाद के लिए प्रगतिवाद पर्याय को ही स्वीकार करते है, लेकिन इसका प्रयोग व्यापक एवं रूढ़ इन दो अर्थों में कर 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशीलता' के

विवाद को समाप्त करने का प्रयत्न किया है, उनके अनुसार-''व्यापक अर्थों में 'प्रगतिवाद' के साहित्य की उस दशा को कहेंगे, जिसमें चलकर साहित्य मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहयोग देता है; रूढ़ अर्थों में प्रगतिवाद साहित्य की उस दिशा विशेष को कहते हैं, जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के अनुसार साहित्य के लिए निर्देशित की गयी हो।''[३]

इस प्रकार धर्मवीर भारती ने प्रगतिवाद के व्यापक एवं रूढ़ अर्थों का समन्वय कर प्रगतिवाद की समग्र संकल्पना को अभिव्यक्त किया है।

डॉ. नगेन्द्र में प्रगतिवाद का सम्पूर्ण विश्लेषण करते हुए कहते है- ''जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही प्रगतिवाद है। उसके मूल तत्व निम्नानुसार है- केवल भौतिक विज्ञान की मान्यता, ईश्वर और आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति, मानवता से समन्वित साम्यवाद का समर्थन, पूँजीवाद और उससे संबद्ध राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रांति, राष्ट्रीयता आदि।''[४]

प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. शिवदान सिंह चौहान की मान्यता देते हुए कहते है कि- ''प्रगतिवाद वह धारा है, जो पूँजीवाद की संपूर्ण सफलता और सजीव परम्पराओं को ग्रहण कर एक नवीन जनसाहित्य का निर्माण करती है।''[५]

यह काव्यधारा अपना संबंध एक ओर जहाँ भारतीय परम्परा से जोड़ती हैं, वहीं दूसरी ओर भाव समाज से भी। समाज में रह रहे व्यक्ति और उनसे बड़ी समस्याओं तथा गरीबी, अकाल, स्वाधीनता, किसान, मजदूर, शोषक-शोषित संबंध और इनसे उत्पन्न विसंगतियों पर जितनी व्यापक संवेदनशीलता इस धारा की कविता में है, दूसरे किसी भी धारा में देखने को नहीं मिलता। और यही धारा में वर्तमान के प्रति वह आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टि अपनाती हुई दिखाई पड़ती है। प्रगतिवादी कवियों ने आदर्श की तरह वायुमंडल यथार्थ धरती पर उतरकर जनजीवन की जीती-जागती प्रतिभा को काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उनके इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को निम्न रूपों से देखा और परखा जाता है। जिनमें सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण, मार्क्सवाद में विश्वास, मानव की प्रधानता, नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण, व्यंग्यात्मकता, प्रकृति प्रेम, राजनीतिक चेतना, काव्यभाषा का महत्व, छन्द-लय समावेश, शिल्प का प्रयोग आदि यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रगतिवाद के रूप में परिलक्षित किया गया है।

मानव आरंभ से ही प्रगति की ओर जोर देते हुए, आगे बढ़ रहा है, और अब तक आगे बढ़ रहा है, आधुनिकता को अपनाते हुए, आगे अनन्त की ओर बढ़ने के लिए अग्रसर है। मानव अपने रहने के अनुरूप अनेक प्रकार के नियम, सिद्धान्त तथा आदर्श बनाता है। और समय-समय पर उसे बदलता भी रहता है। मानव अपने जिस समाज में रहता है, उसमें उसके साधन सम्पन्न और साधनहीन भेद का सामना हर काल में करना पड़ा है। इसी में विषमता

देखने को मिलती है। यह विषमता शांति और सुव्यवस्था, मानव कल्याणार्थ के लिए अनेक चिंतक, संत, राजनीतिज्ञ, विद्वान आदि में विभिन्न स्थितियों में इस विषमता के स्थान पर समानता लाने का प्रयत्न करते आए है। जो समाज अपने समय की आवश्यकताओं को नहीं समझता और वर्षों पूर्व बनाए गए सिद्धान्तों, नियमों, मान्यताओं और विश्वासों में जकड़ा रहता है। वह भी कभी आगे नहीं बढ़ता है, वैसे ही प्रगतिवाद उन रुढ़ियों, नियमों, मान्यताओं, पद्धतियों का विरोध करता है, जो समाज की प्रगति में बाधक है, और उन नियमों-मान्यताओं को अपनाने पर बल देता है, जो वर्तमान के अनुकूल है। दूसरी बात तो यह भी है कि सामाजिक यथार्थ और जीवन यथार्थ के वस्तु सत्य की अभिव्यक्ति की। हम जिस समाज में रहते है, उसकी अच्छाईयों और बुराईयों से प्रभावित होते है। गुण-दोषों से भरपूर इस समाज में ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है और अपने व्यक्तित्व, इच्छाओं, आकांक्षाओं के सहारे इस समाज को भी बनते-बिगाड़ते है। फिर सामाजिक यथार्थ और समाज में व्याप्त अच्छाईयाँ या बुराइयाँ क्या है? साहित्य में यदि केवल अच्छाईयों का ही चित्रण हो तो वह आदर्शवादी साहित्य कहलाता है और यदि केवल बुराइयों का ही चित्रण हो, तो नग्न यथार्थ। प्रगतिवादी उन शक्तियों को पहचानने पर भी बल देता है, जिनके कारण हमारा समाज अंधकार-ग्रस्त है और उन शक्तियों को पहचानने पर भी बल देता है, जिनके बलबूते इस अंधकार को हराया जा सकता है।

इसलिए प्रगतिवाद में प्रेरक के रूप में मार्क्सवाद का सिद्धान्त देखने को मिलता है। यह सिद्धान्त शोषक शक्तियों का विरोध करते हुए दिखाई पड़ता है, और शोषित समाज में चेतना जगाने, उन्हें अपने अधिकारों और समवेत शक्ति के प्रति भरोसा करने पर बल देता है। यह उस सामंतवादी और पूँजीवादी मानसिकता और संस्कृति का विरोध करता है। जो शक्ति और धन को कुछ मुट्ठीभर लोगों के हाथों में केन्द्रित कर देता है, जिसमें वे स्वार्थी और दंभी हो जाते है, और अपनी शक्ति और धन का दुरुपयोग कर उन लोगों का शोषण करते हैं। जिनके परिश्रम के बल पर वे सुख भोगते हैं। प्रगतिवाद भी सामंतवाद और पूँजीवाद का विरोध करता है। जो समाज में व्याप्त अधिकार का कारण है, और उन गरीबों, मजदूरों-किसानों को प्रकाशवान मानता है। जिसके बल पर अंधकार नष्ट हो सकेगा। प्रगतिवाद की दृष्टि में यही श्रमशील मानव 'नया मानव' और 'नया हीरो' है। आप पहले पढ़ चुके होंगे, कि छायावाद के पतनोन्मुख काल की विकृतियों को नष्ट कर नए समाज के निर्माण की बात कही है। इस काल की कविता में इतिहास कल्पना, प्रेम विवाह, प्रकृति की सुंदरता और सुकुमारता पर विशेष बल मिलता है। परन्तु प्रगतिवाद में इतिहास को नकारा नहीं गया, इतिहास या अतीत के मोह से मुक्ति की बात की गयी है। इसके लिए तो व्यक्ति का उन्नयन समाज के सभी वर्गों की समान रूप से उन्नति, रुढ़ियों, अंधविश्वासों से मुक्ति आदि परन्तु सत्य प्रधान है। एक तरफ

प्रगतिवाद ने छायावादी युग की प्रवृत्तियों को बिना अपनाए, नई दिशा प्रदान की, जिससे देश में स्वतंत्रता आन्दोलन की चेतना को समर्थन मिल सका। प्रगतिवाद ने राष्ट्रीय भावना को व्यापक और अधिक विकसित किया जो केवल आदर्शमूलक नहीं बल्कि कठोर श्रम की साधना के लिए आह्वान बना। राष्ट्रीय भावना में मंगलमयी भविष्य को साकार करने का प्रयास किया गया। प्रगतिवाद का आरंभ साहित्य और राजनीतिक आंदोलन के फलस्वरूप हुआ, क्योंकि भारत की आजादी उस समय के लेखकों की प्रमुख समस्या थी। इसके साथ ही वे किसानों-मजदूरों की सुख-सुविधा के लिए चिंतित थे। राजनीतिक जागरण इन लेखकों का प्रधान उद्देश्य रहा। जनतांत्रिक परिस्थिति के आने पर साहित्य और राजनीति में सामान्य लोगों का प्रवेश पहली बार हुआ, जिससे साहित्य में परिवर्तन आया। किसान-मजदूरों के लिए साहित्य का सृजन होने लगा। मानवतावाद में अधिकारों की माँग का नया मोड़ आया। सहानुभूति अधिकारों में परिवर्तित हुआ।

प्रगतिवाद में मूल रूप से शोषक-शक्तियों की पहचान करके उनका विरोध करने पर अधिक बल दिया जाने लगा था। उस समय-समाज और देश की आर्थिक-राजनीतिक, सामाजिक अवनति के मूल कारणों की पड़ताल कर उससे निपटने का साहस पैदा करना था। क्योंकि समाज में पूँजीवाद, सेठ साहूकार, जमींदार, शासन तंत्र के शोषक तंत्र के रूप में प्रस्तुत करने वाले अधिकारी, पटवारी, पुलिस, पंडे-पुजारी आदि के प्रति आक्रोश न लाने से, ये सभी अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए कभी परंपरा के नाम पर और कभी शासन के नाम पर निरीह जनता को अपने अत्याचारों का शिकार बनाते थे। प्रगतिवादी कविता ने स्वर्ग और ईश्वर की कल्पना से दूर हटकर ठोस यथार्थ पर पाँव रखने और मानवता के वास्तविक शत्रुओं के विरोध का स्वर बुलंद किया।

वहीं प्रगतिवादी विचारधारा में, ऐसे समाज की स्थापना पर बल दिया गया है। जिसमें मनुष्य के विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हो सके। वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य का सही उपयोग कर समाज के निर्माण और विकास में सहयोग कर सके। इसलिए प्रगतिवाद ने मानव का महत्व सर्वोपरि रूप में स्वीकार करता है-

"सुंदर है विहग, सुमन सुंदर
मानव तुम सबसे सुंदरतम।" [६]

आगे हम ध्यान दे तो इतने में ही प्रगतिवाद की देन समाप्त नहीं होती है बल्कि उसका रूप आगे भी देखने को मिलता है। विश्व के प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज में धर्म और ईश्वर की उपस्थिति किसी न किसी रूप में अवश्य रही है। किन्तु प्रगतिवाद में इनके प्रति कोई आस्था नहीं। इसका कारण यही है कि धर्म और ईश्वर के नाम पर लोगों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करना आरंभ कर दिया। स्वयं को श्रेष्ठ और दूसरों को हीन समझने लगे, धर्म के नाम पर

अनेक युद्ध हुए। जिस धर्म की स्थापना समाज को संभालने के उद्देश्य से हुई थी, उसी धर्म के नाम पर लोगों को बांटा जाने लगा था। धर्म के नाम पर ढोंग, पाखंड और अंधविश्वासों को बढ़ावा मिलने लगा। धर्म व्यवसाय बन गया।

प्रगतिवाद ग्राम्य जीवन के साथ-साथ नागरिक जीवन की यथार्थ चित्र भी लेकर उपस्थित होता हुआ दिखाई पड़ता है इस काल के कवियों की दृष्टि, जीवन की ठोस यथार्थ पर टिकी है, इसलिए प्रकृति के उक्त उपकरण या नायक-नायिकाओं की परंपरागत अवधारणा उनकी कविताओं का विषय नहीं बनाते। उनकी कविता के विषय बनते है शासन और तंत्र की मार झेलती साधारण जनता, किसान और मजदूर, गरीबी और शोषण के चक्र में पिसते लोग। ये सारी दृष्टियों का प्रभाव लेकर प्रगतिवाद चला और यही प्रभाव इस दौर की कविता की भाषा पर भी दिखाई देता है। इस दौर की कविताओं में छायावाद की कविता से भिन्न संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग न कर, आम-बोलचाल के शब्दों का प्रयोग अधिक करते हुए दिखाई देते है। ताकि सामान्य जन भी इस काल के कविताओं को सहज-सरल रूप से समझ पाए। प्रगतिवाद की कविता में व्यंग्यात्मकता का स्वर अत्यंत प्रबल रूप से सामने आता है, जिससे सामाजिक विषमताओं की अभिव्यक्ति का इससे अच्छा और कोई तरीका इन प्रगतिवादी कवियों का नहीं देखने को मिलता है।

प्रगतिवादी दौर तत्कालीन, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों की देन थी। पूँजीवादी, सामंती व्यवस्था जो धन और शक्ति के केन्द्रीकरण पर बल देती थी, उसके विरोधी-विरोध में श्रमजीवियों, किसानों, मजदूरों के प्रति सहानुभूति लेकर उपस्थित हुआ। राजनीति के घिनौनेपन को लोगों के सामने रखा और कल्पना की बजाय यथार्थ के अनुभवों के साहित्य में प्राथमिकता दी गयी थी। प्रगतिवादी कविता ने लोकचेतना को जागृत करने का काम किया। इस दौर की कविता पर सामयिक और सतही होने का आरोप ध्वस्त हो गया, कि कोई भी साहित्य जीवन के यथार्थ से उदासीन होकर शाश्वत नहीं रह सकता। भविष्य में परिस्थितियाँ भले ही बदल जाएँ, किन्तु वंचितों के प्रति सहानुभूति और शोषण के प्रति आक्रोश सदा रहेगा। यही कारण है कि प्रगतिवाद का दौर भले ही समाप्त हो गया हो, उसके बाद प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता आदि न जाने कितने आन्दोलन आये और गए, किन्तु आज भी कविता में प्रगतिवादी चेतना विद्यमान है और रहेगा।

अगर सभी बातों पर ध्यान दिया जाए तो हम कह सकते है कि लोकमंगल की भावना और प्रेम के विस्तार के कारण प्रगतिवाद, छायावाद के समक्ष खड़ा हुआ। कल्पना के भावना में तैरते विषय और भाव को जमीन पर उतार लाने का श्रेय सिर्फ प्रगतिवाद को जाता है। बहुत से रचनाकार ने प्रगतिवादी विचारधारा से अपनी यात्रा शुरु किए, नई पीढ़ी भी बनी और पुरानी पीढ़ी के लोग भी जीर्ण-पुरातन छोड़कर इससे आ जुडे थे। प्रगतिवाद यह ऐसी धारा रही कि वह किसी नेता या दल का मोहताज नहीं रहना पड़ा। सब मिलाकर देखा जाए तो

सामूहिक स्तर पर और भौतिक मूल्यों के आधार पर मानवता का हित साधना ही प्रगतिवाद का चरम लाभ रहा है, ये जीवन की विषमता का निवारण कर मानवता की प्रतिष्ठा का उच्चादर्श निश्चित रूप से प्रशंसनीय है। डॉ. गणपति चंद्र का कथन है-

''चाहे स्वयं प्रगतिवाद ने कोई विशेष महत्वपूर्ण रचना न दी हों, किन्तु इसके प्रभाव से प्रायः सभी वर्गों के साहित्यकारों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विकास हुआ है।''[७]

नंददुलारे बाजपेयी जैसे आलोचकों ने भी आलोचना के कई दृष्टिकोणों में समाजवादी दृष्टिकोणों को भी स्थान देकर इसके महत्व को स्वीकार किया है। प्रगतिवादी स्वर अपने यथार्थवादी दर्शन के कारण बहुचर्चित एवं जीवन के प्रति सही मान्यता को प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ। और हर क्षेत्र में काव्य, कहानी, उपन्यास और आलोचना में प्रगतिवाद की जिस प्रकार अभिव्यंजना हुई है, उसे देखते हुए छायावाद के बाद की यह सर्वप्रमुख साहित्य धारा के रूप में स्वीकृति है। इसका विकास काव्य में अधिक रहा है। और 'प्रगतिवाद' तो एक काव्य-धारा है और काव्यधारा की लहरों को गिन पाना असंभव है। इसलिए कहा जाए तो गलत नहीं कि प्रगतिवादी काव्य की आयु कम रही हो, फिर भी इस धारा के कवियों का योगदान अविस्मरणीय है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. प्रगतिवादी - सौमित्र - पृ.१०
२. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ - डॉ. शिवकुमार शर्मा - अशोक प्रकाशन, २६१५, नई सड़क, दिल्ली-६, पृष्ठ सं. ५२३
३. प्रगतिवाद : एक समीक्षा - डॉ. धर्मवीर भारती - साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग, इलाहाबाद, पृष्ठ-०७
४. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डॉ. नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली-११०००२
५. प्रगतिवाद - शिवदान सिंह चौहान प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, प्रथम संस्करण-१९४६, पृष्ठ-०१
६. युगवाणी - सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
७. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - गणपतिचंद्र गुप्त भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण, १९६५

-अंशकालीन सहायक प्रोफेसर
नारंगी आंचलिक महाविद्यालय, नारंगी
गुवाहाटी (असम)
मो० : ८७२३९६१०४१

⊙

विश्वनाथ प्रसाद कृत प्याज के छिलके की प्रासंगिकता

–रूबी सिंह

हिन्दी जगत के प्रखर आलोचक यशस्वी कवि जाने-माने ललित निबन्धकार संवेदनशील कथाकार, उपन्यासकार के साथ हिन्दी का ऐसा कोई पक्ष नहीं था। जिस पथ पर उन्होंने गहरी ढंग से अपनी कलम चलाई हो। कुल मिलाकर डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने हिन्दी को बहुत ही समृद्ध किया है। काशी का साहित्य तो उनके बिना अधूरा है। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा स्वांत सुखाय लहलहाई थी।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद खुद अपने आप में गुरुकुल थे। डॉ. बुद्धि नाथ मिश्र, प्रतिभा वर्मा, डॉ. उमाशंकर तिवारी, चकाचक बनारसी, डॉ. अशोक सिंह, डॉ. राम सुधार सिंह, डॉ. शोभ नाथ त्रिपाठी, डॉ. किरन शर्मा, जैसी तमाम प्रतिभाएँ थी, जिनको रचने और गढ़ने का काम विश्वनाथ जी ने किया। डॉ. विश्वनाथ पहले एक समीक्षक एवं निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इसके बाद एक कवि के रूप में हालांकि उन्होंने कविता लिखना पहले शुरु किया था। लेकिन प्रारंभ में उन्होंने कुछ गीत भी लिखे थे।

''लाल माटी की बेटी काली-काली!
माटी की बेटी लाल-लाल या
छन आगे नाचे गोरी छन पीछे नाचे आदि।

एक गीत संग्रह जिसे उन्होंने आरंभिक इन दिनों में लिखा था। छपने में से 'रोशन की नदी' कि नहीं आधुनिक संवेदनाओं के प्रतिफलित करने वाला काव्य संग्रह है। 'जीवन के अनगीन दरवाजे' और 'चुटकी भर अपनापन भी आधार भूमि एकदम अलग ही है। संघर्ष, पीड़ा और उसमें अंतर निहित मानव पीड़ा के संप्रेषण की विश्वनाथ जी की अपनी दृष्टि है। उनका एहसास जीवन की पीड़ा से हुआ है। वह मानव के विश्ववादी सवारों को पूरी शक्ति के साथ स्वीकार करते हैं। एक ओर अंधकार, अनिश्चित और अनास्तित्व है तो दूसरी ओर प्रकाश आशा और अस्तित्व है। उन्होंने व्याप्त अनास्तित्व को शून्य और अंधकार को सहज रूप में शिकार कर उसमें प्रश्न के रूप में उभरा है। औद्योगीकरण ने निरर्थकता के एहसास

तरस और भोगवाद को तीव्रता के साथ मानव जीवन में घनीभूत कर दिया। उसे और स्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन में सारी विसंगतियाँ इसी संक्रान्ति के कारण उत्पन्न हुई।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद एक प्रयोगशील रचनाकार थे। इसलिए उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में नए-नए प्रयोग किए है। प्रयोक्ता रचनाकार होने के कारण वह अपनी सफलता के लिए ज्यादा मूल्यवान होता है। डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद ने जितने भी प्रयोग किए है। उसमें अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई इसलिए वे एक ऐसे बहुमुखी रचनाकार है, जो अपने विकास के साथ-साथ नए प्रतिमान का भी निर्माण करता है।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद जी ने लगभग सभी विधाओं में लेखन कार्य किया हैं, कविता और कहानी को बहुत करीब लाकर 'उपरांत' और अन्य खण्डकाव्य की रचना की है। इनकी तरह गद्य में ललित निबन्ध, कहानी, उपन्यास विधाओं में उनकी रचना मिलती है। साहित्यिक स्वरूप का वैविध्य वहाँ दिखाई पड़ता है। ऐसे ही इनकी एक कहानी संग्रह 'प्याज के छिलके' हैं इसे पढ़ने के बाद यह कहा जा सकता है कि जीवन की सारे अनुभवों को कथा के माध्यम से सार्थक तरीके से कहा जा सकता है।

'प्याज के छिलके' विश्वनाथ जी का पहला कहानी संग्रह है। इसके मध्यम वर्ग का व्यक्ति अपने सारे द्वंद्वों और कसमकस के बावजूद परिवार से अपने को अलग करके भी अपने को अलग नहीं कर पाते है। जीवन की यही बेचैनी कुछ कहने के लिए बेचैन कर देती है। कथाकार जीवन की निराशा की बात कभी नहीं करते है। इस कहानी के सभी पात्र अपने सारे द्वंद्वों के बावजूद निराशा की बात नहीं करते है।

विश्वनाथ जी के कहानियों की एक खास बात यह है कि उनके पात्रों में न ही कोई रोमानियत है और न ही रंगली, लेकिन इसके बाद भी कथा को कैसे रोचक बनाया जा सकता है यह कौशल इस कहानी संग्रह में दिखाई देता है। जीवन की छटपटाहट जितनी बड़ी होती है। रचना भी उतनी बड़ी होती है। इस कहानी संग्रह में सर्वत्र दिखाई देता है कि विश्वनाथ जी ने 'प्याज के छिलके' के माध्यम से जीवन के शाश्वत मूल्यों को भी उकेरा है। रचनाकार जीवन के सारे दांत को कैसे ग्रहण करता है? वह इस कहानी संग्रह को पढ़ने के बाद अनुभव किया जा सकता है। आज मूल्य खंडित हो रहे हैं और 'प्याज के छिलके' की तरह परत दर परत उखड़ते जा रहे हैं। यही बात विश्वनाथ जी ने इस कहानी संग्रह के माध्यम से एक साथ चलने की बात की है। उन्होंने प्याज के छिलके के माध्यम से जीवन के द्वंद्व को मूल्य के माध्यम से एक साथ सजोने की बात की है। इस संग्रह की कहानी इतनी रोचक है कि एक बार पढ़ने के बाद बार-बार पढ़ने का मन करता है इस कहानी संग्रह में सभी कहानियों को एक के बाद एक जीवन के क्रमबद्ध तरीके से से देखा जा सकता है।

प्याज के छिलके

कहानी में इस भाग में प्रेमा, रमेश और पुत्री गुड्डी है। पूरी कहानी में प्रेमा अपने अकेलेपन के साथ है। वह रोजमर्या की सामान्य-सी जिंदगी जी रही है। घर में न तो चीनी है, न चाय, न दाल है, न ही चावल न प्याज कुछ भी नहीं है। हर रोज वह इन्हीं सब चीजों के बारे में सोचती रहती है। प्रेम का पति रमेश ही उनके घर गृहस्थी से कोई मतलब नहीं है सिर्फ सेवा ही घर गृहस्थी के बारे में सोचती है कब कौन-सा काम करना चाहिए। एक प्रेम को बेटी गुड्डी स्कूल से आने वाली थी तो उसके खाने के लिए व्यवस्था करने गई प्रेम रसोई में गई। ''प्रेम ने चीनी का डिब्बा उठाया। डिब्बे में चीनी नहीं थी। झल्लाकर डिब्बे को पटक दिया। कनेक्टर को खोलकर देखा तो वहाँ से भी चीनी नदारद हो चुकी थी। आज चार दिनों से उसने चीनी की रट लगा रखी है। कोई सुने तब न! आखिर दुकान पर उसी को जाना पड़ेगा क्या अभी दफ्तर से आते होंगे तो चाय चाहिए तीन दिनों से गुड़ की चाय बन रही है। आज तो गुड़ भी नहीं है।''[१]

एक दिन गुड्डी स्कूल से घर आती है। उसे ठीक से खाने के लिए भी कुछ नहीं रहता है। प्रेमा गुड्डी से बोलती है।

''तू बहुत बोलती है।
चल पहले नाश्ता तो कर ले।
क्या है मम्मी?
क्या है मेरा सिर सूखी-सूखी रोटियाँ है।
गुड्डी थोड़ा सहमी
फिर जिद करती हुई बोली।
तब तो मैं कुछ नहीं खाऊँगी।
खाओ और चाहे मत आओ।
गुड्डी बस एक बार कह दिया।
मेरा सर मत खाओ''[२]

प्रेमा हर रोज अपने घर गृहस्थी के बारे में सोचती रहती है कि और एक कमरे में बंद रहने पर अपने को अस्तित्व को तलाशती है कि क्या यही औरत का जीवन है? इतना पढ़ लिखकर भी क्या औरत को कोई अस्तित्व नहीं है?

''घर....गृहस्थी....बच्चे....मर्द....एक के ऊपर चढ़ी हुई दूसरी परत। औरत एक परत को अपने ऊपर चढ़ाये रहती है। प्रेमा को प्याज की झनकती हुई गंध का झोंका महसूस

हुआ औरत भी क्या प्याज का एक खूबसूरत सा गड्ढा है। वह जैसे सूखती है। वैसे-वैसे चिकनी ठोस और खूबसूरत लगती है। प्याज का चिकना गोला स्वरूप। फिर उसकी परत को, फिर उसकी एक परत को उधेड़िये।

''तो वह उघड़ती जाती है। जैसे-जैसे परत हटती है वैसे-वैसे झन्नाटेदार गंध हवा में तैरने लगती है। यह गंध हवा में होती है। हवा से ज्यादा एक-एक नस में गुजरती है। पूरे शरीर में फैल जाती है। प्याज की हर परत प्याज है। सारी परतों को हटा देने के बाद प्याज नाम की चीज नहीं रह जाती है। प्रेमा को भी महसूस हो रहा था, कि अब उसका कुछ भी नहीं है, उसके ऊपर परत दर परत चढ़ी हुई है। इन परतों का मिला-जुला रूप ही प्रेम है। सारी परतों को हट जाने पर वह कुछ भी नहीं है खूबसूरत प्याज...एक-एक....परत एक-एक परत... . और हवा में तैरती हुई झन्नाटेदार गंध।''[३]

''प्रेमा को लग रहा था कि उसकी चेतना के अंदर भी गांठ पड़ गयी है उसके ऊपर कई-कई परते हैं। अभी कुछ देर पहले ही उसे गांठ के कुछ छिलके हट गए थे। वह थोड़ा मुक्ति का अनुभव कर रही थी लेकिन फिर घुटन जैसे एक परत चढ़ती जा रही हो। क्या जिंदगी यही है? 'प्याज की गढ़' की तरह चेतना पर एक-एक परत का चढ़ना भी पड़ा का उतरना पहले नहीं उतरती है सड़ाँस आ जाती है सड़ी हुई परतों को उतरने पर कुछ बच जाता है। न उतराने पर सब सड़ जाता है। देखने में बहुत अच्छी प्याज भी कई परतों की गांठ है। हर परत को उतार देने पर कुछ भी शेष नहीं रह जाता क्या जिंदगी यही है?''[४]

प्रेमा अपनी अस्तित्व की तलाश करती रहती है। अपने अकेलेपन में हर रोज जी रही है।

दूसरी कहानी का अंश है कि ''जीने की चाह'' इस कहानी भाग में जीने की चाह नाम से विदित हो रहा है कि व्यक्ति के लिए एक समय ऐसा आता है कि वह चाहकर भी कुछ नहीं कर पाता सिर्फ आंख से देख सकने के अलावा वह कुछ नहीं कर सकता। इस कहानी में राम, रतन, प्रभात तीन पात्र होते हैं। रम्मत सरकारी नौकरी करता है और एक उम्र के बाद अपने शरीर को लेकर अस्वस्थ हो जाता है। वह अपने से ठीक से चल भी नहीं पता है। उसकी पत्नी उसके साथ सिर्फ संपत्ति की वजह से उसके साथ रहती है। उसे कभी प्रेमभाव नहीं रखती है और न ही कभी प्रेम से बात करती है।

'वैसे चले चंगे रहेंगे, मुझे देखते ही कराहने लगते हैं अरे क्या मैं तुम्हारे पास आ रही हूँ कि सिसकने लगे। ऐसे मर्द से तेा नामर्द भला। मेरी जिन्दगी नरक हो गयी है।''[५]

रम्मन अभी जीवित ही है। तभी उसकी पत्नी उनकी सारी संपत्ति अपने नाम करवा लेती है। उसके बच्चे भी उसके पास नहीं आते हैं। रम्मन अपनी जिंदगी में अपनी अवस्था को लेकर

शरीर से मजबूत ही हो गया था उसके अंदर अभी और जीने की चाहत भरी थी।

''रन्नो के बाप कह रहे थे उनकी हालत ठीक नहीं कुछ दिन चले, न चले मेरा भी ठिकाना नहीं। धीरज रखो। तुम्हें पेंशन मिलेगी। उनकी नौकरी के लिए नामित उत्तराधिकारी छोटा हो तो ठीक रहेगा।''[६]

इस कहानी का एक अंश ''लोथ'' है। इसमें लेखक ने एक दिखाया कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सिर्फ अपने स्वार्थ के लिए जुड़ा रहता है तो व्यक्ति किसी से बिना किसी स्वार्थ के ही जुड़ा रहता है। प्रदीप और निर्मला इस कहानी के मुख्य पात्र हैं। निर्मला को शुरू से ही प्रदीप हर चीज का गाइड करता आया है। उसका सभी काम बिना कोई स्वार्थ रखे करता रहा, यहाँ तक कि जब निर्मला की शादी दूसरे आदमी से हो जाती है। तब एक दिन वह स्टेशन आता है, निर्मला और प्रदीप दोनों एक पास खड़े होकर भी एक दूसरे से बात नहीं कर रहे हैं निर्माला सिर्फ इशारे में प्रदीप से अपने समान को ट्रेन के अन्दर रखने को कहती है।

''मुझे विश्वास है कि आप यह काम कर सकते हैं। छोटी-छोटी आँखों को नचाकर वह कहती है। यह उसका रामबाण है। एक काम आ गया तो जरा सा देखकर जैसे इशारा कर दिया।''[७]

'अंधेरे के बाहर' कहानी के इस भाग में लोकनाथ राम टहल पत्नी बेटा पत्र ही इस कहानी में लोकनाथ अपने नौकरी से रिटायर हो जाते हैं फिर उनका अपने और दूसरे की नजर में कोई अस्तित्व ही नहीं रहता रिटायर होने के बाद रामटहल कहता है कि-

''अब अकेले में भगवान की याद के अलावा सब के पास और जाएगा ही कौन।''[८]

रिटायर होने के बाद लोकनायक का जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है। वह जिधर भी जाता है। घर, परिवार, बाहर सब उसको एक नजर से ही देखते हैं। पत्नी, बच्चे भी अब उसकी इज्जत पहले जैसे नहीं करते है। जिससे वह मन ही मन परेशान हो जाता है और खुद को लोगों के बीच नहीं ला पाता है। अब वह कमरे में अंधेरे में रहने लगता है तथा अपने अस्तित्व की तलाश करने लगता है।

'दबाव' नामक इस कहानी में कमल की दो बहनें ललिता, विमला और उसकी मां है। कमल अपने बहनों में सबसे बड़ा है। वह थोड़ी सांवली है अपने सांवलेपन को लेकर वह बहुत परेशान है। अंदर ही अंदर घुटती रहती है। सबको दिखाने के लिए वह प्रसन्न रहती है पर अंदर से घुटती रहती है।

''उसके सांवले होने की वजह से कोई उससे शादी करने को तैयार नहीं होता, जिसमें वह अकेलापन महसूस करती है। कमल की छोटी बहन की शादी हो चुकी होती है। यह बात भी उसको परेशान करती है उसके ऊपर अपनी मां का भी दबाव रहता है। कभी-कभी उसकी मां भी उसको कुछ-कुछ बोल देती है। उसके रंग को लेकर जिससे मन और भी परेशान हो जाती है।''[६]

कमला ने दो-तीन झटके दिए लेकिन विमल उसे मजबूत थी उसने कमल को अपनी बांहों में कसकर बाँध रखा था विमल की मजबूत बाहों में बड़ी हुई कमला छूटने के लिए छटपटा रही थी, वह अंदर से दबावा महसूस कर रही थी लेकिन बाहर उसके शरीर पर विमला की बाहों का दबाव उसे बंधे हुए था वह अंदर के दबाव से छूट पा रही थी और ना बाहर के दबाव से।''[१०]

कहानी के अन्तर्गत 'जेठ भतरी' में रामचरण 'हरखू', जीउतलाल पतों' नामक पात्र है। जीउत लाल और पतों दोनों पति-पत्नी है। इस कहानी में गांव की वही संकुचित मानसिकता को ही उसकी शादी अभी कुछ समय पहले ही हुआ था इसी कारण से किसी कारण से उसकी मृत्यु हो जाती है।

''पनारु और छबिया पच्चीस साल के जवान बेटे की मौत पर सिर पीट-पीट कर रोये गांव भर धरहरिया करने लगा था न जाने किस जन्म का पाप था जो यह दिन देखना पड़ा था।''[११]

इस तरह की सोच मानसिकता पूरी कहानी में दिखाया गया है। सारी गलती वह अपनी बहू को देती है कि तुम्हारे ही वजज से मेरा पुत्र मर गया है। तुम्हारा क्या है तुम तो दूसरा आदमी खोज लगी शादी के लिए पुत्रों इन सारी उलाहनाओं से अंदर ही अंदर घुट रही है और अपने अस्तित्व को तलाश रही है।

नागफनी के कांटे- इस कहानी में दीपक मोहन नामक पात्र है। पूरी कहानी दीपक और मोहन पर लिखी गयी है। दीपक बीमार ही रहता है। मोहन डॉक्टर बन जाता है। उसका इलाज करता है दीपक के पास इलाज के लिए पर्याप्त पैसे भी नहीं है फिर भी मोहन दीपक का इलाज करता है। जिससे दीपक को लगता है कि उसकी पत्नी का मोहन के साथ चक्कर है। इसलिए मोहन उसके ऊपर एहसान कर रहा है बिना पैसे के मेरा इलाज कर रहा है।

कच्चा मकान- इस कहानी में फूलचन्द्र, हंसराज और रामकली नामक पात्र है। इस कहानी में कच्चा मकान है। यह भगवान चारों तरफ से मिट्टी का बना हुआ है। पति-पत्नी बरसात के मौसम में परेशान है। पति-पत्नी बरसात के मौसम में परेशान हो जाते हैं। बरसात में एक दिन बहुत तेज बरसात होने लगती है। इस सन्दर्भ में एक बात कही गयी है कि-

''अभी पानी कम नहीं हुआ था। फूलचन्द्र को आशा नहीं थी कि पहले ही बार ऐसा बरसेगा। कच्ची दीवार खदर रही थी। वे सीढ़ी उठा ले सर पर बोरा डाला और अंधेरे में ही ऊपर चढ़ गए इधर-उधर टटोल कर हटी हुई ईंटों को अपनी जगह पर लगा दिया। पानी अभी रिस रहा था।''[१२]

चूल्हे की आग- इस कहानी में गुलाबी पत्नी और नन्हे मुन्ने देवर है गांव में आकर ऐसा होता कि समय का खाना बनने के बाद लोग चूल्हें पर दूसरे समय का खाना बनाने के लिए इस पर लकड़ी रख देते ही जिस में उसे लकड़ी में भी जो भी नामी हो खत्म हो जाए। पूरी कहानी में उसकी भीगी हुई लकड़ी को चूल्हे में जलाई जाती है, लेकिन भीगा होने की वजह से वह जल भी नहीं पाती है जिससे समय से खाना भी नहीं बन पाता है पति, मां और देवर सब परेशान रहते हैं पर सूखी लकड़ी कोई नहीं लाता यह सब देखते हुए नन्हें ने अंतिम में अपना खोलने वाला बल्ला ही तोड़कर चूल्हे में डाल देता है जिससे चूल्हा जल जाता है और खाना बन जाता है।

''नन्हे ने इधर-उधर देखा जब कुछ नहीं बन पाया जो अपना पुराना बैट और बल्ला ही उठा लाया गुलाबी मना करती रही लेकिन नन्हें ने एक बल्ला चूल्हे में लगा दिया।''[१३]

भाड़ का मरा आदमी- इस कहानी में रमेश नामक एक ही पात्र है। रमेश स्टेशन पर चारों तरफ भीड़ की वजह से वह ट्रेन में बैठता है। जहाँ उसकी जाना रहता है। उसे ट्रेन में भी बहुत भीड़ रहती है। जिस पर वह बैठता है इस बोगी में इस बोगी में यात्री रमेश को चोर डाकू समझ कर उससे कोई नहीं बोलता है और अन्त में आते-आते तब उसको बोगी से धक्का मार के गिरा देते है।

सूर्य नमस्कार- इस कहानी में बेनी माधव और निहाल नामक पात्र हैं। बेनी माधव इस ईमानदार व्यक्ति ही है। पैसे से शुरुआत में नगर पालिका में अधिकारियों के कृपा दृष्टि से मालिक कार्य करता था। वह प्रतिदिन नियम से कुछ शाम सुबह शाम सूर्य और अपने अधिकार को नमस्कार करता था। एक दिन वह अपने मालिक के मालिक को नमस्कार नहीं करता जिससे कि उसका सामान उठाकर फेंक दिया जाता है।

''दूसरे दिन बेनी का समान बगीचे के बाहर फेंक दिया जाता। पालिका के दो चपरासियों ने बेनी की बाह पकड़कर फाटक के पार करते हुए कहा'' अब वह अंदर घुसने की कोशिश मत करना अगर अंदर आए तो ठीक नहीं होगा।''[१४]

इस तरह से बेनी माधव जीवन भर परेशान रहता है। एक दिन सड़क पर उसकी मृत्यु हो जाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. विश्वनाथ प्रसाद कृत 'प्याज के छिलके' पृष्ठ संख्या १, प्रकाशक साहित्य भंडार, प्रथम संस्करण, २०१४
२. वही, पृष्ठ संख्या-३
३. वही, पृष्ठ संख्या-७
४. वही, पृष्ठ संख्या-११
५. वही, पृष्ठ संख्या-१५
६. वही, पृष्ठ संख्या-१८
७. वही, पृष्ठ संख्या-२१
८. वही, पृष्ठ संख्या-२४
९. वही, पृष्ठ संख्या-३९
१०. वही, पृष्ठ संख्या-३९
११. वही, पृष्ठ संख्या-४१
१२. वही, पृष्ठ संख्या-६२
१३. वही, पृष्ठ संख्या-६७
१४. वही, पृष्ठ संख्या-१०६

-शोधछात्रा
ज्वाला देवी विद्यामंदिर पी.जी. कॉलेज
कानपुर उ.प्र.
मो. ७९८५७६२११९

⊙

भारतीय परम्परा, इतिहासबोध और अज्ञेय

–डॉ. सुशील द्विवेदी

अज्ञेय ने परम्परा के ज्ञान पर बल दिया है। यह परम्परा का ज्ञान रूढ़ि के विरुद्ध 'वैज्ञानिक चेतना' व 'स्वयं की खोज' के लिए आवश्यक है। रामविलास शर्मा ने भी अपनी पुस्तक 'परम्परा का मूल्यांकन' में परम्परा के ज्ञान की आवश्यकता पर जोर देते हुए लिखा है- 'जो लोग साहित्य में युग परिवर्तन करना चाहते हैं, जो लकीर के फकीर नहीं हैं, जो रूढ़ियां तोड़कर क्रान्तिकारी साहित्य रचना चाहते हैं, उनके लिए साहित्य की परम्परा का ज्ञान सबसे ज्यादा आवश्यक है।' इतिहास, साहित्य, संस्कृति, कला, भाषा सभी मानविकी विषयों के लिए परम्परा का ज्ञान जरूरी है।

मानव चेतना, इतिहास, समाज, सत्ता, संस्कृति का मूल्यांकन परम्परा के ज्ञान पर ही निर्भर है । लेखक के लिए यह पुश्तैनी की कोई वस्तु नहीं है, जो स्वतः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानांतरित होती रहती है, बल्कि इसे प्राप्त करने के लिए उसे बड़ी सजगता से परिश्रम करना पड़ता है। वही लेखक की साधना है, वही उसका अर्जित किया हुआ ज्ञान । अज्ञेय 'अमित अरथ अति आखर थोरे' की साधना में मग्न शब्द-योगी, काल-जीवी, आगमजानी हैं, इसीलिए कालिदास-सी चुनौती होने के बावजूद भी वह वाग्धर्मिता को वज्र से कठोर अवरोधों के सम्मुख विशृंखलित नहीं होने दिया, बल्कि अपने शील, अपनी मर्यादा को बनाये रखा । वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी के नये पुराने साहित्यकारों को पढ़ते, नया लीक बनाते, रचते रहे। उनके यहाँ बुद्ध जेन व मानवेन्द्र राय के दर्शनों की अजस्र स्रोत मौजूद है इसलिए अपने निबंधों, कहानियों, कविताओं और 'अंतःक्रियाओं' में मानसिक विचलन से बच सके। वे कालिदास, कबीरदास, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला की परम्परा को विस्तृत अर्थ-सन्दर्भ दे सके, उन्होंने अपने निबंधों का फलक कला, काल, इतिहास, सृजन, आलोचना, समसामयिक विमर्शों तक विस्तृत किया, इसलिए उनके निबंधों में लोक का अनुभव भी है और शास्त्र का भी।

उन्होंने इसे अपनी परम्परा से अर्जित किया है और पुत्र की भांति इसे समाज से अंगीकार किया। किन्तु उन्होंने परम्परा और रूढ़ी के प्रचलित अर्थ को स्वीकार नहीं किया य अपितु रूढ़ि के नकारात्मक बोध पर प्रश्न उठाते हैं। यह तभी संभव है जब रचनाकार ने अपनी परम्परा, समाज को माँ के रूप में देखा हो स 'नदी के दीप' कविता में अज्ञेय ने लिखा है-

''माँ है वह, इसी से हम बने हैं
किन्तु हम हैं द्वीप हम धारा नहीं हैं''

परम्परा से विमुख होना उनके लिए रेत होना है रूढ़ि, परम्परा को प्राप्त करने लिये ऐतिहासिक चेतना का होना कितना आवश्यक है, यह अज्ञेय बखूबी जानते थे, इसीलिए उन्होंने लिखा है- ''रूढ़ि की साधना, परम्परा के प्रति जागरुकता, कैसे प्राप्त हो सकती है और किस प्रकार साहित्यकार के मानस को, उस कार्य के मूल्य को, प्रभावित करती है ? इस जागरुकता का मुख्य उपकरण है ऐतिहासिक चेतना- अर्थात् जो कालानुक्रम में बीत गया है, अतीत है, उसके बीतेपन की ही नहीं, उसकी वर्तमानता की भी चिर जाग्रत अनुभूति । साहित्यकार के लिए आवश्यक है, साहित्य में और जीवन में 'आसीत' और 'अस्ति' का, जो 'अचिर' हो गया है, उसका जो 'चिर' है उसका, और दोनों की परम्परा परम्परा, अनोन्याश्रयता का ज्ञान उसमें बना रहे।

अज्ञेय को इतिहास की गणितीय-विधि स्वीकार्य नहीं है। उन्होंने इतिहास को वर्तमान की दृष्टि से देखा है। अज्ञेय के चिंतन में कुछ शब्द विचारों की तरह हैं, जैसे- वर्तमान (present), परम्परा (tradition), इच्छित विश्वास (Tpadition), सातत्यता (continuity)। अज्ञेय विभिन्न विषयों से आयातित शब्दों का इस तरह से प्रयोग करते हैं कि एक ओर तो उनका पारम्परिक अर्थाभास होता है तो दूसरी ओर नये अर्थ और सांस्कृतिक सन्दर्भों के अन्वेषण का मार्ग विवृत्त होता है स मिसेल फूको ने अपनी परम्परा की गतिशीलता पर बल दिया है। ''फूको ऐतिहासिक अध्ययनों की सदृश्यता वंशावली में देखते हैं, परन्तु मूलतः उसके जीवंत विकास में, न कि अतीत की किसी जड़ या ठहरी हुई अवधारणा में।'' मिसेल फूको, नीत्से, टी. एस. इलियट , फ्रायड और रेमंड विलियम्स के विचारों का अज्ञेय के विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा स बारबरा लोत्ज (BARBARA LOTZ) जी ने ''हिन्दी मॉडर्निज्म रीथिंकिंग अज्ञेय एंड हिज टाइम्स'' में लिखा है- ''अज्ञेय टी.एस. एलियट से प्रभावित होकर उसके खिलाफ तर्क देते हैं जो परम्परा को एक पैकेज की तरह मानता है, जिसे उठाया और ले जाया जा सकता है स बल्कि उसे जाँच, परीक्षण और खारिज द्वारा अपनाया जा सकता है स नतीजतन, वे परम्परा की गतिशील अवधारणा को मानते हैं।'' (Inspired by T-S- Eliots thoughts, he argues against an attitude that treats tradition like a package that could be picked up and carrired away- Instead, it has to be appropriated again and again by examining, questioning, testing and rejecting it- Consequently, he outlines a dynamic concept of tradition.) अज्ञेय परम्परावादी तो नहीं हैं किन्तु वे परम्परा के वाहक, संग्राहक अवश्य हैं। इसीलिए अपने उपन्यासों, कहानियों, कविताओं, निबंधों में भी वे परम्परा को ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ-साथ वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। 'असाध्य वीणा', 'नदी के द्वीप', 'शेखर : एक जीवनी', 'अमर वल्लरी' और 'त्रिशंकु' या 'आत्मनेपद' के निबंधों में परम्परा के

ऐतिहासिक सन्दर्भों व उसके वर्तमानता के सूत्र मौजूद हैं स अज्ञेय ने लिखा है- ''वाल्मीकि के वेदों को, कालिदास के लिए वाल्मीकि को, तुलसीदास के लिए कालिदास को, या मैथिलीशरण गुप्त के लिए तुलसीदास को, वह छोड़ नहीं देता, वह इन सबको अपनी प्रवहमानता के लम्बे सूत्र में पिरोता चलता है। उस मन में अतीत कुछ भी नहीं होता केवल 'पहले से वर्तमान' की वह परम्परा बढ़ती चलती है जिसमें 'नया आया हुआ वर्तमान' अपना स्थान बनाएगा।'' सृजन के लिए परम्परा के साथ-साथ वर्तमान का बोध आवश्यक है। वर्तमान से पलायन का अर्थ है विराट मानव संवेदना और उसके दिग्दर्शन, प्रत्यक्षीकरण से कटाव। अतीतजीवी लेखक भविष्य के लिए नये मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकता। इस मायने में अज्ञेय अतीतजीवी रचनाकार तो नहीं हैं। वे स्वाधीनचेता, बौद्धिक और सृजनशील, चिरंतन मानव-आस्था और उसकी संवेदना के संवादधर्मी रचनाकार हैं। अज्ञेय की तरह निर्मल वर्मा भी परम्परा को प्रवाहमान, गतिशील देखते हैं स उनका मनना है कि ''परम्परा को हम किस दृष्टि से देखते हैं, यह महत्वपूर्ण है। मुझे नहीं लगता है कि परम्परा मेरी स्वतंत्रता को खण्डित करती है। बल्कि मैं अपनी स्वतंत्रता का उपयोग तभी ठीक ढंग से कर सकता हूँ जबकि मैं अपनी परम्परागत सामाजिक परिवेश को ठीक से समझ पाऊं। ताकि मैं उसके साथ एक स्वस्थ और अर्थपूर्ण रिश्ता जोड़ पाऊं। इस अर्थ में परम्परा मेरे लिए अधिक मूल्यवान है।''

प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच पूरी दुनिया में इतिहास, कला, संस्कृति और साहित्य का पुनर्मूल्यांकन हुआ स हिन्दी में यह समय छायावादी कविता का समय है। आधुनिकता का समय है, विद्वानों के लिए यह समय इतिहास और स्मृति के मूल्यांकन का समय है। एक खण्डित मानव मन पर विचार करने का समय है। अज्ञेय के आलोचना-कर्म की गहराई और व्यापकता पर एकाग्रता से मन को केंद्रित अकरने की आवश्यकता है, जबकि उनके इस पक्ष की हिंदी-आलोचना में घोर उपेक्षा की गई है। ''प्रायः उनके चिंतन को पश्चिम की घटिया नकल कहकर खारिज कर दिया जाता रहा है। मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि का अंधा अधिनायकवादी चक्र अज्ञेय को अमेरिकी पूँजीवादी दलाल, कांग्रेस फॉर कलचरल फ्रीडम का एजेंट, रूपवादी, कलावादी, भाववादी, व्यक्तिवादी तथा लघुमानव सिद्धांत का प्रतिष्ठापक कहकर कोसता रहा है। यह निरंतर भूलते रहे हैं कि अज्ञेय ने आलोचना-चिंतन में रूपवाद-व्यक्तिवाद का समर्थन कभी नहीं किया। हर कीमत पर 'सौंदर्य-बोध और शिवत्व-बोध' का समर्थन किया है तथा स्वच्छंतावादी-रसवादी चिंतन के विरोध की निरंतर अगुआई की है।'' अज्ञेय के साथ-साथ निर्मल वर्मा ने भारतीय भूमि पर खड़े होकर स्वयं को पश्चिम की वैचारिकी से मुक्त रखा है और चिंतन में पश्चिमी औपनिवेशिकता की आलोचना की है। निर्मल वर्मा के शब्दों में- ''उन अदृश्य परिवर्तनों का साक्षी भी था, जो उन दिनों मेरे भीतर हो रहे थे, मैं जो यूरोप जाने से पहले था, वह नहीं था जो अपने देश वापस लौटा था।''

इतिहास, साहित्य, संस्कृति, कला, भाषा सभी मानविकी विषयों के लिए परम्परा का ज्ञान

जरूरी है। मानव चेतना, इतिहास, समाज, सत्ता, संस्कृति का मूल्यांकन परम्परा के ज्ञान पर ही निर्भर है । लेखक के लिए यह पुश्तैनी की कोई वस्तु नहीं है, जो स्वतः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानांतरित होती रहती है, बल्कि इसे प्राप्त करने के लिए उसे बड़ी सजगता से परिश्रम करना पड़ता है। वही लेखक की साधना है, वही उसका अर्जित किया हुआ ज्ञान । अज्ञेय 'अमित अरथ अति आखर थोरे' की साधना में मग्न शब्द-योगी, काल-जीवी, आगमजानी हैं, इसीलिए कालिदास-सी चुनौती होने के बावजूद भी वह वाग्धर्मिता को वज्र से कठोर अवरोधों के सम्मुख विश्रृंखलित नहीं होने दिया, बल्कि अपने शील, अपनी मर्यादा को बनाये रखा । वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी के नये पुराने साहित्यकारों को पढ़ते, नया लीक बनाते, रचते रहे। उनके यहाँ बुद्ध जेन व मानवेन्द्र राय के दर्शनों की अजस्र स्रोत मौजूद है स इसलिए अपने निबंधों, कहानियों, कविताओं और 'अंतःक्रियाओं' में मानसिक विचलन से बच सके। वे कालिदास, कबीरदास, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला की परम्परा को विस्तृत अर्थ-सन्दर्भ दे सके। उन्होंने अपने निबंधों का फलक कला, काल, इतिहास, सृजन, आलोचना, समसामयिक विमर्शों तक विस्तृत किया। इसलिए उनके निबंधों में लोक का अनुभव भी है और शास्त्र का भी। उन्होंने इसे अपनी परम्परा से अर्जित किया है और पुत्र की भांति इसे समाज से अंगीकार किया, किन्तु उन्होंने परम्परा और रूढ़ी के प्रचलित अर्थ को स्वीकार नहीं किया, अपितु रूढ़ि के नकारात्मक बोध पर प्रश्न उठाते हैं। यह तभी संभव है जब रचनाकार ने अपनी परम्परा, समाज को माँ के रूप में देखा हो।

अज्ञेय 'हिस्ट्री' या 'इस्टोरिया' शब्द की अर्थ छटा तक सीमित नहीं रहते हैं। वे उसके प्रचलित अर्थ को तो स्वीकार करते हैं पर उसका मानवीय और भारतीय सन्दर्भ में भी सूक्ष्मता से विस्तार करते हैं। परिवेश सदा से ही व्यक्ति को प्रभावित करता आया है और परिवेश के प्रति सजगता उतनी ही अनिवार्य है जितनी की अपने प्रति सजगता आवश्यक है। इतिहास का अध्ययन चाहे किसी भी समय के बिंदु पर रह कर क्यों न किया जाए उसमें एक चीज सदैव विद्यमान रहती है- मानव। परिवेश मानव जाति को प्रभावित करता रहा है पर इतिहास सिर्फ परिवेश के घात-प्रतिघात का विवरण मात्र नहीं है। अज्ञेय के यहाँ इतिहास के केंद्र में मानव है, वे इतिहास लेखन में 'मौखिक परंपरा' को अनदेखा करने के खिलाफ है, इतिहास लेखन में साहित्यिक परंपरा से तथ्य प्राप्त करने में उसका प्रयोग अवश्य करते हैं किन्तु फिर भी साहित्य की महत्ता को यथोचित रूप में न स्वीकारने से भी उन्हें आपत्ति है। उनके इतिहास के केंद्र में मानव मात्र का स्वातंर्त्य-बोध भी अर्थ पाने की चेष्टा करता है। उनके इतिहास में स्मृतियों का ऐसा देश है जिसमें अनुभव की प्रमाणिकता है, जो सिर्फ परंपरा तक नहीं बल्कि सुक्ष्तम अनुभव खंड से सम्बंधित है जिसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है लेकिन संप्रेष्य नहीं बनाया सकता। वे उस इतिहास लेखन को भी खतरनाक मानते हैं जिसके केंद्र से मानव और मनुष्यता हट जाती है।

इतिहास से मनुष्यता का हटना मानव के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लगा सकता है और उसे अतिक्रूर भी बना सकता है। इन्हीं संभावनाओं के सन्दर्भ में वे लिखते हैं, ''ऐसा इतिहास जिसने मानव को केंद्र में न रखने के कारण उसे (इतिहास) अप्रासंगिक बना दिया है। केवल तथ्यों का समूह- घटनाओं का क्रम विवरण भी- इतिहास नहीं होतारू घटना-क्रम के सन्दर्भ में मानव की अनवरत आत्मप्रत्यभिज्ञा ही इतिहास है। मानव के मानवीय उत्तरदायित्व का मूल इस बोध में है कि वह अपनी स्वतंत्रता और उस स्वतंत्रता की मर्यादाएँ पहचाने। इसकी अभिव्यक्ति भारतीय शब्द 'इतिहास', 'हिस्ट्री' की अपेक्षाकृत अधिक भलीप्रकार से करता है। उनका मानना है कि, पश्चिम के शब्द हिस्ट्री अथवा इस्टोरिया से स्वभावतः भिन्न भारतीय शब्द इतिहास इस सत्य को को सामने रखता थारू मानव की आत्म्प्रत्याभिज्ञा के लक्ष्य से उसकी दृष्टि कभी विचलित नहीं होती थी। इतिहास- 'ऐसा होता आया है'- इतिहास की यह परिकल्पना घटना क्रम को केवल मानवीय सन्दर्भ नहीं देती थी, मानव को केंद्र में रखते हुए उसे अपने परिवेश के साथ सर्जनात्मक रूप से जोड़ने के उद्यमों का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती रहती थी।

वास्तव में आत्मप्रत्यभिज्ञा है क्या? यह सुनने में जितना क्लिष्ट प्रतीत हो रहा है, अर्थ में उतना ही सरल और गहन है। आत्म्प्रत्यभिज्ञ वस्तुतः स्वयं को जाननें की पूरी प्रक्रिया है। 'विज्ञान युग' ने जितना मानव समाज को दिया नहीं, उससे अधिक उससे वसूल किया है। विज्ञान बुद्धि की देन अवश्य है किन्तु आत्म चेतना भी उसी का अभिन्न अंग है जिसे अक्सर बौद्धिकता के नाम पर और दकियानूस परंपरा कहकर बगल कर दिया जाता है। लेकिन यह स्वयंम को जानने की चेतना प्रक्रिया अपने भीतर क्या कुछ नहीं समाहित किये रहती है, परिवेश की, बहार की चेतनाय प्रक्रिया की, भीतर की चेतना और चेतना की चेतना। वैचारिक जगत के इतिहास का क्षेत्र और लक्ष्य इससे निरुपित हो जाता है। मानवीय संस्कृति, मानव के अतीत-चिंतन, आत्म-निरूपण, लोकोत्तर जिज्ञासा और इन सब के साधनों-उपकरणों का अध्ययन इस चेतना-प्रक्रिया का अंग है।

चेतना-प्रक्रिया स्थितिशील नहीं बल्कि गतिशील रहता है। यह गतिशीलता उस निरंतरता का परिणाम है जो सदियों से प्रवाहमान है। आधुनिकता के भुलावे ने व्यक्ति को दिग्भ्रमित किया है। व्यक्ति का अपनी चेतना से जुड़ना, उस चेतना का अपने परिवेश से जुड़ना यह सब एक नैरन्तर्य के क्रम में चलता है किन्तु इसमें बाधा 'ऐतिहासिक चेतना' उत्पन्न करती है। ऐतिहासिकता बिना निरंतरता के हो नहीं सकती और निरंतरता का नैरन्तर्य प्रभावित हो चुका है आधुनिकता से। अब प्रश्न यह है की हम जा किस ओर रहे हैं? परिवेश के साथ अर्थवान समबन्ध कन्टिनुटी से है लेकिन देश शब्द परंपरा से बुद्धिजीवियों को दकियानूसी गंध आने लगती है। फिर उसका अर्थ वो 'ट्रेडिशन' लगाते हैं और ट्रेडिशन (को रुढ़ि) मान लेते हैं फिर वह जो भी हो उसे तोडना ही अभीष्ट है क्योंकि वही मॉर्डन है और प्रोग्रेसिव है और आज कौन है जो मॉर्डन नहीं बनना चाहता है।

विडम्बना यह है की आधुनिता की चादर ने सभी को अँधा बना दिया है। अज्ञेय इस सोच के विरुद्ध लड़ने में पहले सिपाही के रूप में तैनात दीखते हैं। इतिहास आधुनिक जीवन में पनपी वह अवधारणा है जो हमारी परंपरा के सम्मुख शिशु समान या यूँ कह लें की बीज रूप में ही है, वह कैसे इस देश की संस्कृति, सभ्यता को स्वयं में समेटेगी? आधुनिक बनने के लिए ऐतिहासिक होना जरूरी है पर जिसका अतीत ही इतिहास से भी पुरातन हो उसका क्या ? हमारे देश में यह बात तो और भी महत्त्व रखती है, जहाँ इतिहास का निरवधि महाकाल के फैलते हुए महावृत्त में एक छोटा-सा आवर्त-भर माना गया है। यदि ऐतिहासिकता के बिना आधुनिक होना संभव नहीं है तो ..निरंतरता के बिना इतिहास का कोई अर्थ नहीं है। निरंतरता की पहचान ही वास्तव में इतिहास-बोध का मूल और आरम्भ है।

इसी निरंतरता को पुष्ट करती है एक और परंपरा जिसे अभिजात्य पूर्वाग्रह के कारण वह महत्ता नहीं मिल पाई जो मिलनी चाहिए थी और इस पर भी अज्ञेय को क्षोभ होता है। यह एक और परंपरा है- मौखिक साहित्य की। भारत की मिट्टी के कण-कण में मौखिक परंपरा के साक्ष्य भरे पड़े हैं लेकिन आजतक इनकी और उस गंभीरता से नहीं देखा गया जितना की देखना और समझना चाहिए था। यह तब और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब वह देश भारत हो। श्रुतियों की महान चिंतन धारा रही है जिसकी उपेक्षा की गयी। असंख्य वर्षों तक मौखिक परंपरा में ही हमारे संस्कारों का ग्रन्थ 'वेद' जब तक लिखे नहीं गए तब तक सुरक्षित थे। विचारणीय बात यह भी है की भारत पर जितने आक्रमण हुए हैं और जितने मंदिरों को, पुस्तकालयों इत्यादि को जलाया गया, लूटा गया उस हिसाब से यहाँ किसी भी प्रकार का ज्ञान शेष रह पाना बेहद मुश्किल था। इस ज्ञान परंपरा का थोडा बहुत शेष रह जाना इसलिए संभव हो सका क्योंकि वह स्मृति रूप में मौखिक परंपरा के माध्यम से एक व्यक्ति से दुसरे व्यक्ति को हस्तांतरित की गयी थी।

'इतिहास और अभिजात्य पूर्वग्रह' निबंध में अज्ञेय लिखते हैं, "श्रुति-परंपरा की व्यापक उपेक्षा साहित्य के इतिहास के अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्रोत की उपेक्षा है। वाचिक साक्ष्यों को उसका उपयुक्त महत्त्व दिए बिना समकालीन साहित्य का कोई सही इतिहास नहीं लिखा जा सकता है स आज भी समाज में ऐसे उदहारण देखने को मिल जाएँगे जहाँ हमारे बुजुर्ग बड़े-बड़े डिग्री धारियों को पीछे कर सकते हैं। कई ऐसे निरक्षर हैं जो साक्षरों को अपने अनुभव जनितज्ञान से पीछे कर सकते हैं और ऐसे साक्षर भी हैं जिनमें संस्कारिकता और साहित्य-विवेक का निपट अभाव रहता है।

इतिहास लेखन की प्रमाणिकता के सन्दर्भ में जो प्रश्न उठाये हैं वह प्रथम दृष्टया संभवतः तार्किक न लगे किन्तु गहनता से अवलोकन करने पर यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है की वास्तव में वेद-पुराण-उपनिषद- रामायण-महाभारत-आल्हा के गीत और जाने कितनी रचनायें और साक्ष्य वो हैं जिन्हें मौखिक स्त्रोतों से ही लिखित रूप प्रदान किया गया था और आज

बिना उनके जाँच-परख के उन्हें अनावश्यक ठहरा कर ठंडे बस्ते में डाल दिया जाता है। स्वयं अज्ञेय भी यह मानते हैं की ये सभी आरोप अतिरंजित लग सकते हैं लेकिन सिर्फ लिखित रूप में न होने पर वाचिक साक्ष्यों और साहित्य का महत्त्व कहीं से भी कम नहीं हो जाता है। इसीलिए वे लिखते हैं, ''मैं इतिहासकार नहीं हूँ, लेकिन चाहता हूँ कि जिस सच्चे साहित्येतिहास की सामग्री देश में उपेक्षित बिखरी पड़ी है वह साहित्येतिहास साहित्य के पाठकों को उपलब्ध हो। 'आम आदमी' की बात करते हुए ही हम लगातार जिस आम आदमी की उपेक्षा करते रहते हैं उसे हम उसका उचित और अधिकृत स्थान दें।''

मानव को निरंतर माँजनेवाली, संस्कार देनेवाली, मानवीयता और मुक्ति प्रदान करनेवाली देसी आधुनिकता का या भारतीयता का पक्ष ग्रहण किया है। आलोचना-चिंतन के भीतर से गुजरने पर कहा है कि आलोचना कई प्रकार की होती है, क्योंकि वह कई उद्देश्यों से की जा सकती है। सब आलोचना मूल्यवान नहीं होती, उसका उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करना या व्याख्या करना भी हो सकता है। लेकिन अंततोगत्वा आलोचक को कहीं-न-कहीं मूल्यों का विचार करना ही पड़ता है-कृति का मूल्यांकन वह न भी करे तो भी स्वयं उसकी रसास्वादन की प्रक्रिया में उसके स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का महत्त्व होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. पालीवाल, कृष्णदत्त, अज्ञेय रचनावली (भाग -१३), पृ० २५६ , भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण २०१६
२. वर्मा, निर्मल, इतिहास, स्मृति, आकांक्षा,, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - २०१०, ६१
३. दिनकर, रामधारी सिंह, आधुनिक बोध, , पंजाबी पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्रथम संस्करण-१६७३, पृ० १२०
४. विमल, गंगा प्रसाद, आधुनिकतारू साहित्य के संदर्भ में, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-१६७८, पृ० १५
५. मेघ, रमेश कुंतल, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-१६६६, पृ० ५७
६. पालीवाल, कृष्णदत्त, अज्ञेय के सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१७, पृ० १२६
७. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, छठा संस्करण-२०११, पृ० १०

-कवि-आलोचक
दिल्ली
E-mail : hastaank-hindi@gmail-com

अलका सरावगी के कहानी संग्रह 'दूसरी कहानी' में स्त्री अस्मिता का स्वरूप

–राधा गौतम

अलका सरावगी हिन्दी साहित्य जगत की एक प्रतिष्ठित साहित्यकार है। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से स्त्री अस्मिता से जुड़े प्रश्नों को बहुत बारीकी से उठाया है। यह शोध पत्र उनके कहानी संग्रह 'दूसरी कहानी' जिसका पहला संस्करण सन् २००० में प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह की कहानियों में चित्रित स्त्री अस्मिता से सम्बन्धित प्रश्नों का विश्लेषण करता है। यह शोध पत्र उनके कहानी संग्रह में आए स्त्री पात्र को नए दृष्टिकोण से देखने का और यह स्त्रियों की अस्मिता एवं अस्तित्व से जुड़े मुद्दों को गंभीरता से विश्लेषित करने का प्रयास करेगा। अलका सरावगी के दो कहानी संग्रह 'कहानी की तलाश में' तथा 'दूसरी कहानी' प्रकाशित हो चुके है। इस कहानी संग्रह की कहानियां स्त्रियों की मनःस्थिति उनकी अस्मिता तथा अस्तित्व से सम्बन्धित है।

इस संग्रह की कहानी 'पार्टनर' जिसकी कथावस्तु कलकत्ता से तीन सौ किलोमीटर दूर बने विश्रामगृह से शुरू होती है। यह विश्रामगृह प्रकृति की गोद में स्थित है जो किसी का भी मन मोहने के लिए पर्याप्त है। विश्रामगृह के आस-पास खजूर, पीपता, कमरख, शिरीष और अनेक तरह के पेड़-पौधे है। यहाँ लोग छुट्टियाँ बिताने आते है जिससे वो यहाँ की ताजी और शुद्ध हवा लेकर अपना स्वास्थ्य बना सकें। इसी विश्रामगृह में एक लड़की जो कलकत्ता से आई है जो प्रकृति प्रेमी है वह यहाँ के पेड़-पौधों को करीब से छूकर देखती है। यहाँ उसकी मुलाकात चौदह-पंद्रह साल के एक लड़के से होती है। वह लड़का-लड़की से पूछता है कि ''आप कलकत्ता से आई हैं न ? लड़के ने पहल करते हुए पूछा'', लड़की ने गरदन हिलाते हुए हामी भरी।''[१] विश्रामगृह की हवा ही कुछ ऐसी है कि लोग यहां आते ही मिलनसार हो जाते है। दोनों की मित्रता हो जाती है। लड़की-लड़के से उम्र में काफी बड़ी है इसलिए वह जानना चाहता है कि लड़की ने अभी तक शादी क्यूं नहीं की। मनुष्य का मन चंचल होता है वह किसी अजनबी से भी मिलने पर उनके विषय में जानने के लिए इच्छुक हो उठता है। लड़का और लड़की विश्रामगृह की सुंदरता को सुबह से शाम तक निहारते है उनके इस दोस्ती के रिश्ते में धीरे-धीरे एक दूसरे को पार्टनर कहकर सम्बोधित करने लगते है ''उन दोनों को पार्टनर की संज्ञा न जाने लड़के के घरवालों ने दी या लड़की के घरवालों ने''[२] स्त्री और पुरुष के बीच

पत्नी-पति, भाई-बहन, प्रेमी-प्रेमिका के अलावा दोस्ती जैसा गहरा रिश्ता भी होता है, पंरतु सामाजिक व्यवस्था इसे भी शक की दृष्टि से देखती है।

यह सिलसिला यूँ ही चलता रहता है। लडकी से मिलने के बाद लड़के के जीवन में काफी बदलाव आ गया था। विश्रामगृह में हर साल कोई न कोई चर्चा का विषय बन जाता था ''किंतु इस बार की चर्चा में कौतुकही अधिक था क्योंकि दोनों के बीच किसी निंदा करने लायक आकर्षण की संभावना को लड़की लड़के के बीच उम्र का अंतर और लड़की की गंभीरता खारिज कर देती थी।''[३] वास्तव में हमारे समाज में बडी उम्र की लड़की का छोटे उम्र के लड़के के साथ दोस्ती करना या उससे विवाह करना किसी अपराध से कम नहीं है यह भी पितृसत्ता की रूढ़िवादी सोच ही है किंतु वर्तमान समय में पुरुष स्वयं भी इस सोच को तोड़ रहे है जिससे नई सोच का विकास हो रहा है। विश्रामगृह में लोग उनके बारे में तरह-तरह की बाते बनाते, लड़के की बहन भी अपने भाई की पार्टनर को पंसद नहीं करती है, वह अपनी माँ से शिकायत भी करती है तो इस पर उसकी मां कहती है-''तुम्हें क्यों उनकी दोस्ती से तकलीफ हो रही है। अच्छी लड़की है। उसे इतिहास-भूगोल पढ़ा रही है, पहले यहाँ आता था, तो रोज कहीं चोट लगा लेता था, किसी से झगड़ आता था, अब इस बार कितनी अच्छी तरह से रह रहा है।''[४] वास्तव में लोगों को मित्रता से भी परेशानी हो सकती है समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो लड़के और लड़की की मित्रता को भी सहन नहीं कर सकते हैं किंतु लड़के की माँ जैसे लोग भी है जो इसे सकारत्मक रूप से स्वीकार करते हैं। सब कुछ अच्छा चल रहा था, किंतु एक दिन ''जब लड़की बिना अपने पार्टनर को अपना पता ठिकाना दिए एक दिन अचानक सुबह अपने मां-बाप के साथ जो वहां आने के बाद अस्वस्थ ही रहे थे और बहुत कम बाहर निकलते थे वापस कलकत्ता लौट गई।''[५]

किसी का यूँ चले जाना मन को विचलित कर देता है और वह भी तब जब दोनों अच्छे मित्र हो जिनमें आत्मीयता थी। लड़की के जाने के बाद लड़का भी कलकत्ता लौट गया। ''उनके जाने के बाद लोगों के मन की बात किस्सों के रूप में सुनाई जाने लगी जिसमें इस तरह के अनमेल लड़के-लड़की के बीच में प्रेम संबंध पनप जाता था। कई लोगों के पास बड़ी उम्र की औरतों द्वारा छोटी उम्र के लड़कों को फंसाने की दास्ताने निकल आई। एक सप्ताह तक यह सिलसिला चलता रहा।''[६] समाज में इस तरह की बातें यह साफ इंगित करती है कि महिलाओं के लिए समाज का नजरिया कितना संकुचित है उनके लिए बड़ी उम्र की औरत का छोटी उम्र के लड़के से दोस्ती करना उचित नहीं है। समाज को इस बात में कोई परेशानी नहीं होती है बड़ी उम्र का आदमी छोटी उम्र की लड़की से दोस्ती कर सकता है उससे विवाह भी कर सकता है समाज का दोहरा चरित्र भी इस कहानी के माध्यम से दृष्टिगत होता है। पितृसत्तात्मक सोच ने सदा से ही स्त्रियों को उनकी मर्जी से जीने से रोकती आयी है उन्हें पंरपराओं, रीति रिवाजों के नाम पर जकड़ कर रखना चाहती है। कहानी में पार्टनर (लड़की) के साथ भी समाज का यही दृष्टिकोण है।

एक साल बीत जाता है लड़का पुनः विश्रामगृह आता है वह वहाँ उसी तरह कमरख के पेड़ को छूकर देखता है, ''मकान के सामने से गुजरता हुआ जब वह तालाब के पास पहुँचा तो उसे यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ कि पार्टनर वहीं उसी तरह बैठी है।''[७] उसने लड़के की कदमों की आहट से सिर उठाया तो लड़का उसकी मांग में सिंदूर की लाल रेखा देखकर चौंक गया, तो आपकी शादी हो गयी हम लोगों को बिना बताए? शादी तो मेरी दो साल पहले ही हो गई थी।''[८] लड़की उत्तर में कहती है, यह सुनकर लड़का उदास हो जाता है उसके अतीत सारे दृश्य के धुंधले हो जाते हैं। यह कहानी लड़के और लड़की की मित्रता पर आधारित है जिसे समाज सदेंह की दृष्टि से देखता है।

इस कहानी संग्रह की कहानी 'अंधेरी खोह में' की मुख्य पात्र मिसेज शुक्ला है। वह एक चिन्तनशील महिला है उनके मन में तरह-तरह की चिंतायें जन्म लेती है वह अपनी अस्मिता और अस्तित्व की तलाश करती है। मिसेज शुक्ला मध्यप्रदेश के जगदलपुर के बस्तर के आदिवासी इलाके में घूमने आई है। वह लिखना चाहती है। यो तो वे साल में दो चार कहानी कविताएँ भी लिख लेती लेकिन अब दिन-प्रतिदिन उनके लिए लिखना कठिन होता जा रहा है इसका कारण उनका अपने आपको घरेलू परंपरागत स्त्री होना मानती है। यह कहानी स्त्री अस्मिता के प्रश्नों को उठाती है कि कैसे स्त्री स्वयं उस रुढ़ियों से मुक्त होना चाहती है। मिसेज शुक्ला भी अपनी लेखन क्षमता को और विकसित करना चाहती है। वह कहानियाँ लिखती है किंतु उनके पात्र उच्च वर्ग के शानदार जीवन जीने वाले है। इस कारण उनकी आलोचना की जाती है वह मन ही मन सोचती है। ''अब उन्हें लगने लगा है कि अपनी अनिवार अभिव्यक्ति को बचाने के लिए उनके पास दो रास्ते बचे है या तो वे कथा रस का पुट लिए वृत्तांत और लेख लिखने लग जाए या फिर स्वंय आलोचना लिखे।''[९] इस कहानी के माध्यम से लेखिका यह कहना चाहती है कि कोई स्त्री लेखन करती है उसकी शैली भिन्न है। तो समाज का आलोचक वर्ग उसकी अभिव्यक्ति को स्वीकार करने के स्थान पर उसकी आलोचना करने लगते है।

वह सोचती है क्या वाकई कोई उनकी रचना छापेगा या किसी गोष्ठी में बुलाएगा तथा उन्हें पत्र लिखेगा तो इसलिए नहीं की उनकी रचना में कुछ है बल्कि इसलिए कि वे एक औरत है।''[१०] उनके मन मैं अपनी अस्मिता को लेकर संदेह उतपन्न होता है वह संदेह और दुविधाओं की अंधेरी खोह में अपने आप को ढूंढती हुई संघर्ष करती दिखाई देती है।

कहानी ''वाइल्ड फ्लावर हाल'' एक ऐसी लड़की की कहानी है जो अपने परिवार के साथ शिमला घूमने आती है। कहानी की मुख्य पात्र अजय की पत्नी है जो अपने पति द्वारा उपेक्षित है। उसकी मनोस्थिति को उसके पति द्वारा समझा नहीं जाता है। सफर की थकान से उसका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। वह घूमने नहीं जा पाती है वह सोचती है। ''अजय मेरे बिना जाना नहीं चाह रहे थे कम से कम कह तो यही रहे थे। सब चले गए, मैं अपने जीवन के बत्तीस

सालों में कभी इस तरह अकेली नहीं रही है।''[११] यह स्थिति लगभग वह हर स्त्री अनुभव करती है जिसका पति अजय जैसा हो। दांपत्य की अधिकतर जिम्मेदारी स्त्रियों पर ही होती है। युवती को उसके पति द्वारा अकेला छोडकर जाना उसे उदास कर देता है वह अकेले बैठी डायरी लिखती और पढ़ती है। युवती के पति अजय को सुमन भाभी का व्यवहार बहुत पसंद है ''वह कहता है उसकी जानी हुई सारी औरतों में सुमन भाभी ही है जो एकदम बेफ्रिक और मस्त है, न ज्यादा सोचने वाली, न चिंता, न रोना- धोना, क्यो नहीं कुढ़ती है।''[१२] युवती को अजय की बातों से बहुत दुख होता है। पुरुप क्यों यह नहीं समझ पाता है कि आपकी पत्नी को इससे कितना कष्ट होगा वह अपनी पत्नी की तुलना दूसरों से करने लगता है बजाए अपनी पत्नी को समझने के। पति द्वारा अपनी पत्नी की मनःस्थिति जानने की कोशिश ही नहीं की जाती है जिससे उसकी पत्नी अकेलेपन में जीने को मजबूर है।

कहानी ''एक और नमक हराम'' यह ऐसी लड़की की कहानी है जो किशोरावस्था में प्रवेश कर रही है। इस कहानी के माध्यम से लेखिका ने बड़े ही मार्मिक ढंग से बालिका के किशोरावस्था में पहुंचने की स्थिति को चित्रित किया है। कहानी की मुख्य पात्र रजनी है जिसकी उम्र तेरह वर्ष है। इसकी एक बड़ी बहन तथा एक छोटी बहन है। कहानी रजनी के बाल्यावस्था से किशोरावस्था में प्रवेश करने पर उसमें होने वाले मानसिक तथा शारीरिक बदलाव को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करती है। उसके मन में अनेक प्रश्न है जो चाह कर भी किसी से कह नहीं पाती है। इन दिनों रजनी में काफी बदलाव आ गया है उसने बहन के साथ नहाना छोड़ दिया, सबके सामने कपड़े बदलना छोड़ दिया और उसने खुद पर ध्यान देना शुरु कर दिया। उसने अनुभव किया कि ''गर्मियों की छुट्टियों के बाद कम से कम पाँच-छः लड़कियों ने स्कूल के फ्रॉक के नीचे कुछ और भी पहनने लगी थी। लड़कियां इस बात से काफी शर्मिन्दा थी और पूरी कोशिश करती है इस बारे में किसी को पता न चले।''[१३] कहानी समाज की रूढ़िगत सोच को चित्रित करती है कि कैसे किशोर होती लड़कियों की समस्या को उनके लिए शर्मिन्दा होने का कारण बनाया जाता है, उन्हें नजरंअदाज किया जाता है उनके कोमल मन को ठेस पहुंचाई जाती है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है, लोग ऐसा सोचते है समाज के इस दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है और यह बदलाव हुआ भी है किंतु अभी भी वाछिंत बदलाव नहीं हुआ है। रजनी मन ही मन सोचती है उसकी बड़ी बहन को उसके बड़ों की किताबें पढने तथा छुटकी के साथ खेलने से भी परेशानी है। इसी बीच रजनी के पापा का रमाकांत दरबान से झगड़ा हो जाता है वह उसे नमक हराम तथा गद्दार कहते है।

किशोर होती रजनी पर कई तरह की पाबंदियाँ लगा दी जाती है। रजनी की मानसिक स्थिति को कोई नहीं समझता है वह अकेलेपन का शिकार हो जाती है। रजनी स्वंय के लिए कार्य करती है जो उसे पसंद होता है वह होली की तैयारी में व्यस्त है वह बलून फूला रही है तभी इतने में उसके पापा प्रकट होते है, ''इतनी बड़ी लड़की हो गई हो बैलून फूला रही

हो? यह खिड़की बंद नहीं कर सकती थी? देखती नहीं कैसे लोग ताक रहे है।''[१४] रजनी के पिता उस पुरुष वर्ग का प्रतीक है जो लड़कियों को स्वतंत्र रह कर उन्हें खुश नहीं देखना चाहते है बल्कि उस पर अनेक तरह की पाबन्दी लगाकर उसके मानसिक विकास में बाधा पहुँचाते हैं। रजनी खड़ी खड़ी सोचती है उसकी हिम्मत जवाब दे जाती है वह उसी टब में बैठ जाती है इस पर उसकी मां भी बिना समझे उसे ही दोष देती हुई कहती है- ''दिमाग खराब हो गया है क्या? हद है क्या ये आजकल की लड़कियां किसी को निहाल करेंगी।''[१५] रजनी की आँखों से आंसू बहने लगते है जैसे उसके सब्र का बाँध टूट गया है। यह कहानी भारतीय परिवारों की सच्चाई दिखाती है कि जिन घरों में लड़कियां होती है उनके माता-पिता के मनोभाव को उजागर करती है।

'कनफेशन' कहानी कॉलेज में पढ़ने वाली मीरा की है जो अपने कॉलेज मैगजीन के लिए कहानी लिखती है किंतु उसकी प्रिन्सिपल मिसेज कपूर उसकी कहानी वापस लौटा देती है यह कह कर ''कुछ ठीक नहीं है। मीरा अपने माता-पिता के बीच आयी कड़वाहट से काफी प्रभावित है वह अत्यधिक भावुक और संवेदनशील लहकी है। वह समझ नहीं पाती पापा ऐसा क्यों करते है? मम्मी ऐसा क्यों करती है? उसका मन बहुत होता है कि उन दोनों के जीवन को एकदम दूसरी तरह से लिख डाले।''[१६] दाम्पत्य जीवन की सुखद बनाने की जिम्मेदारी पति तथा पत्नी दोनों की होती है किंतु हमारे समाज में इसकी अधिक जिम्मेदारी स्त्रियों पर ही होती है। मीरा सोचती है आखिर क्यों मम्मी-पापा के मध्य इतनी कड़वाहट है फिर उसे नीना आंटी की स्मृति हो आती है'' उस दिन पापा का जन्मदिन था राधा चंपा के फूल देखकर नीना आंटी ने कहा भाभी ये फूल मैं ले लूँ, मम्मी ने धीरे से अपनी चिढ़ दबाते हुए गरदन हिलाई थी यह कह उठी थी हाँ-हाँ ले जाइए सब ले जाइए एक भी मत छोड़िए।''[१७] मीरा को उनकी कड़वाहट की असल वजह समझ आ गई थी। कहानी की पात्र मीरा सोचती है यदि कोई गलती हो जाए तो उसका कनफेशन कर लेना चाहिए, मीरा के पिता द्वारा भी कहानी के अंत में कनफेशन किया जाता है। दांपत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए पति तथा पत्नी दोनों को आवश्यक है वह एक दूसरे को समझे किंतु अधिकतर पुरुष वर्ग अपनी ही दुनिया में रहते है तथा स्त्रियाँ अपनी घुटन और अकेलेपन में जीने को मजबूर है। अलका सरावगी का कहानी संग्रह 'दूसरी कहानी' में चित्रित नारी अस्मिता के प्रश्नों को दांपत्य जीवन के माध्यम कहानी कनफेशन में चित्रित हुआ है। वहीं बाल्यावस्था से किशोरावस्था में प्रवेश करती बालिका रजनी के माध्यम से लड़कियों का घर में बड़े होने पर उन पर बेवजह लगने वाली पाबंदियों से आहत बच्ची की मनःस्थिति को बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया गया है। लेखिका ने पार्टनर कहानी के माध्यम से समाज की उस मानसिकता पर चोट की है जो कम उम्र के लड़के तथा अधिक उम्र की लड़की के दोस्ती के रिश्तों को संदेह की दृष्टि से देखते है तथा इसे अनुकूल नहीं मानते है। स्त्रियों को हर स्तर पर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

अंधेरी खोह में कहानी की पात्र मिसेज शुक्ला अपनी कहानी लेखन की शैली के कारण पाठक वर्ग की आलोचना का शिकार होती है किंतु वह अपनी अस्मिता के संघर्ष करती दिखाई देती है। अलका सरावगी की कहानियों कुछ नए ढंग की कहानियाँ है, यह जीवन के स्वरूप, सामाजिक दृष्टिकोण को सत्य में समाहित किए हुए स्त्रियों की मनः स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. 'दूसरी कहानी' संग्रह पार्टनर कहानी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ २८
२. वही, पृष्ठ ३३
३. वही, पृष्ठ ३४
४. वही, पृष्ठ ३४
५. वही, पृष्ठ ३५
६. वही, पृष्ठ ३५
७. वही, पृष्ठ ३६
८. वही, पृष्ठ ३७
९. 'दूसरी कहानी' संग्रह 'अँधेरी खोह में' कहानी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ ५२
१०. वही, पृष्ठ ५३
११. 'दूसरी कहानी' संग्रह 'वाइल्ड फ्लावर हाल' कहानी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ ११२
१२. वही, पृष्ठ ११३
१३. 'दूसरी कहानी' संग्रह 'एक और नमक हराम' कहानी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ १३४
१४. वही, पृष्ठ १४०
१५. वही, संख्या १७३
१६. 'दूसरी कहानी' संग्रह, कन्फेशन कहानी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ १७३
१७. वही, पृष्ठ १७५

-शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ
ईमेल-salikram96325@gmail-com मो०- ६३६४४४२७५६
आचार्य रामपाल गंगवार
शोध निर्देशक

समीक्षा

सबके राम

–विवेक सत्यांशु

''राम'' हिन्दुओं के लिए सिर्फ भगवान नहीं हैं बल्कि वह इनकी आत्मा हैं इनका सत्य है। राम का नाम जीवन की नियति के साथ जुड़ा है, राम लोक में रची-बसी एक संस्कृति हैं। जब यह संस्कृति और कला सें उतरते हैं तो इनका स्वरूप इतना रचनात्मक होता है कि लोक हृदय में सिर्फ और सिर्फ राम होते हैं। कलाकार और दर्शक अपनी सुध-बुध खोकरर राममय हो जाता है।

हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध लेखिका डॉ० उषा मिश्रा की किताब 'सबके राम' भारत की विविध भाषाओं में राम की उपस्थिति का सिर्फ सारगर्भित विवेचना ही नहीं करती बल्कि उनका समग्र समूल्यांकन भी करती है।

समीक्षित कृति	:	सबके राम
लेखक	:	डॉ० उषा मिश्रा
प्रकाशन	:	'हिन्दुस्तानी एकेडमी' उ०प्र० प्रयागराज
मूल्य	:	२२०/-

'सबके राम' की भूमिका में डॉ० उषा मिश्रा लिखती हैं- रामकाव्य में जहाँ समस्याओं का समाधान है, तो इसमें आदर्श व व्यवहार, वैराग्य व ग्रार्हस्थ, राजतन्त्र व लोकतन्त्र, सगुण व निर्गुण, लोक व शास्त्र आदि का श्रेष्ठ समन्वय भी समाहित है। हकीकत तो यह है कि रामकाव्य आज के भटके हुए लोगों को उचित दिशा-निर्देश कर सकता है। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की कि हम रामकाव्य का अनुशीलन करें तथा प्रेम, सौहार्द, मानवता, नैतिकता, मर्यादा, गरिमा, शालीनता, नारी सम्मान, समाजवाद, वन संरक्षण, पर्यावरण सुरक्षा, भाईचारा, जातिगत समानता, सामाजिक समानता, आदर्श राजनीति, प्रजाकल्याणकारिता, गुरुसम्मान, आदर्श शिष्यत्व, परहित भाव, आदर्श दाम्पत्य, आदर्श मैत्री, निःस्वार्थता, राष्ट्रभक्ति, मातृभूमि प्रेम, आदर्श पुत्रत्व व सर्वमंगल का भाव अपनाएँ। इसी में लोक कल्याण व आत्मकल्याण है तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का आदर्श व मूल्य रामराज की अवधारणा में भी विद्यमान है। रामराज की सार्थकता 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' में ही निहित है। राम का आदर्श हमारे समाज को सुखी व कल्याणमय बनाता है।

'सबके राम' किताब में डॉ० उषा मिश्रा जी ने इनके विविध भाषाओं के आयामों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रमुख रूप से भारतीय भाषाओं में राम साहित्य की परिकल्पना उषा मिश्रा जी ने किया है जैसे 'उर्दू में राम साहित्य की प्रासंगिकता, दक्षिण भाषाओं में राम साहित्य मलयालम में राम, कन्नड़ में राम, मराठी भाषा में रामकथा, पूर्वी भारत की रामकथा, पंजाबी भाषा में रामकथा, राजस्थानी भाषा में रामकथा को उषा मिश्रा जी ने रेखांकित किया है। इसके अलावा तुलसी की रचनाओं की भाषा पर इनके लेख इसमें प्रस्तुत हैं। भारतीय भाषाओं में राम साहित्य की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए उषा मिश्रा जी ने लिखा है-

'वाल्मीकि रामायण' ऐसा प्रथम या आदिकाव्य है, जिसने रामकथा को विस्तृत एवं भव्य आयाम प्रदान किया है। राम के उदात्त एवं आदर्श जीवन से प्रेरित होकर बौद्धों और जैनों ने भी उन्हें अपनाया। वह बौद्धों के लिए बोधिसत्त्व बने। जैनियों में तिरसठ महापुरुषों में उन्हें स्थान मिला और वे आठवें बलदेव के रूप में पूज्य हुए। बौद्ध जातक, अनाकम जातकम, दशरथ जातकम् और दशरथ कश्रानम् में रामकथा लिपिबद्ध हुई।' आधुनिक भारतीय भाषाओं में दक्षिण की तमिल भाषा सबसे पुरानी भाषा मानी जाती है। इस भाषा में अनेक प्राचीन ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें रामायण का स्थान अन्तयतम है। तमिल भाषा की तरह तेलगु भाषा में भी रामायण का पर्याप्त प्रभाव दिखालयी देता है। तेलगु साहित्य में 'द्विपद रामायण' को प्राचीनतम रामायण माना जाता है।

तमिल और तेलगु साहित्य की रामकथाओं के अतिरिक्त मलयालम साहित्य में भी 'रामचरित' पर अनेक मौलिक तथा अनूदित ग्रन्थ पाये जाते हैं। तमिल, तेलगु और मलयालम साहित्य की रामकथा के अतिरिक्त द्रविड़ कुल की भाषा कन्नड़ साहित्य में भी रामकथा की परम्परा अर्वाचीन रही है। ११वीं शती से कन्नड़ साहित्य में रामकथा का प्रयोग होता आ रहा है। दक्षिण भारत की इन चार द्रविड़ भाषाओं के अतिरिक्त आर्येतर भाषाओं में भी रामकथा का प्रचार हुआ।

उषा मिश्रा जी ने लिखा है कि आदिवासी भाषाओं में भी रामकथा का प्रचार हुआ है। विशेषतः आदिवासी संगीतों में श्रीराम की चर्चा अनेक स्थलों पर हुई है।

गुजरात और महाराष्ट्र में भी वाल्मीकि रामायण के अनुकरण तथा अनुसरण से अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं।

पूर्वी भारत की भाषाओं और साहित्यों में बंगला का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। भारत की अन्यान्य भाषाओं की तरह मैथिली भाषा में लिखित राम साहित्य भी कम नहीं है। संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी में भी राम साहित्य की प्रचुरता है।

उर्दू भाषा में भी राम साहित्य पर काफी काम हुआ है। मुंशी जगन्नाथ लाल 'खुशतर' ने जो उर्दू, फारसी, अरबी और संस्कृत के विद्वान थे, मसनवी की तर्ज पर 'रामायण' शीर्ष से अनुवाद किया।'

वास्तव में 'सबके राम' किताब में डॉ० उषा मिश्रा जी ने भारतीय वाङ्मय में प्रस्तुत विविध भाषाओं में राम की राममय उपस्थिति का समग्र मूल्यांकन किया है। इस किताब को विद्यार्थियों, शोधार्थियों को जरूर पढ़ना चाहिए। डॉ० राम मनोहर लोहिया का स्पष्ट मत था राम देश की एकता के प्रतीक हैं। राम तो अगम है संसार के कण-कण में विराजते हैं। वास्तव में 'सबके राम' किताब के लिए डॉ० उषा मिश्रा जी साधुवाद की पात्र हैं।

-१४/१२ शिवनगर कॉलोनी,
अल्लापुर, प्रयागराज-२११००६
मो०: ८६५७८०४१४४

जस की तस धरि दीनी चदरिया

–डॉ० हरिसिंह पाल

गद्य की आधुनिक विधाओं में आत्मकथा लेखन का विशेष स्थान है। आत्मकथा स्वयं की कथा होती है। जो हमने जीवन में अनुभव किया, भोगा और जिया, उसे ईमानदारी से तटस्थ रूप में प्रस्तुत करना, आत्मकथा है। इस प्रकार आत्मकथा लेखक के अपने जीवन से सम्बद्ध वर्णन है। आत्मकथा के द्वारा अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोक और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्त्व दिखलाया जाना सम्भव है। (हिन्दी साहित्य कोश अजित कुमार) यद्यपि आत्मकथा लिखना सबसे बड़ा चुनौतीपूर्ण कार्य है क्योंकि सच कड़वा होता है। अपनी कमजोरियों पर कलम चलाना प्रत्येक लेखक के वश में नहीं होता। अपने सम्बन्धित और मित्रों पर सच-सच लिखना खतरा मोल लेना जैसा ही होता है। सही लिख देने से किसी के भी जीवन में तूफान आ सकता है, निकटतम सम्बन्द बिगड़ सकते हैं। दृढ़ निश्चयी लेखक ही ऐसा कर सकता है।

समीक्षाकृति	:	**एक आई०ए०एस० की आत्मकथा**
लेखक	:	डॉ० प्रमोद कुमार अग्रवाल
प्रकाशक	:	प्रभात प्रकाशन
		४/१६ आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२
मो०	:	६८१०६८१३६८
पृष्ठ	:	२०८, मूल्य-४००/-
पेपर बैक	:	वर्ष २००४

हिन्दी साहित्य में आत्मकथा का प्रारम्भ जैन कवि द्वारा सन् १६४१ में लिखी पद्यात्मक आत्मकथा 'अर्धकथानक' से माना जाता है। तत्पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'कुछ आप बीबी कुछ बीती', महात्मा गाँधी की 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग', जवाहर लाल नेहरू की 'मेरी कहानी' काफी चर्चित रही हैं। साहित्य जगत् में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', डॉ० हरिवंश राय बच्चन, डॉ० भोलानाथ तिवारी, मोहनलाल भास्कर 'मैं यरूसलेम में भारत' का जासूस था, क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद की आत्मकथाएँ विशेष उल्लेखनीय रही हैं।

आजकल साहित्यकारों, राजनेताओं और प्रशासनिक अधिकारियों की आत्मकथाएँ काफी हड़कम्प मचाने वाली सिद्ध हो रही है।

भूतपूर्व नौकरशाह एवं चर्चित साहित्यकार डॉ० प्रमोद कुमार अग्रवाल की हाल ही में प्रकाशित 'एक आई०ए०एस० की आत्मकथा' प्रकाश में आई है। वस्तुतः यह आत्मकथा सत्य, ईमानदारी एवं न्याय के पथ पर आरूढ़ रहे एक बरिष्ठ आई०ए०एस० अधिकारी की प्रेरक कहानी है। अपनी भूमिका लेखकीय में डॉ० अग्रवाल ने लिखा भी है- ''मेरी यह कृति केवल मेरा आत्मकथात्मक वृत्त ही नहीं, पाँच दशकों के प्रशासन, साहित्य एवं समाज के महत्त्वपूर्ण मुद्दों का दस्तावेज है।'' कुल २०८ पृष्ठ में समाहित और २५ खण्डों में वर्गीकृत यह आत्मकथा एक रोचक उपन्यास एवं जीवनी का भी आनन्द देने में सफल कृति है। मेरी दृष्टि में यह आत्मकथा उन युवाओं को सकारात्मक सन्देश देने में सफल रही है जो धनाभाव में अथवा निम्न मध्य पारिवारिक आमदनी के कारण उच्च शिक्षा से विमुख हो जाते हैं और प्रतियोगी परीक्षाओं से मुख मोड़ लेते हैं। डॉ० अग्रवाल निम्न मध्य वर्ग से सम्बद्ध होते हुए भी अपनी मेधा शक्तिबल पर उच्चशिक्षा प्राप्त कर जीवन का लक्ष्य गन्तव्य के रूप में ग्रहण करने में सफल रहते हैं। उच्च शिक्षा और उच्च पद सिर्फ धनवानों की बपौती नहीं है। कम आर्थिक ससाधनों के रहते हुए अग्रवाल बरुआसागर जैसे गाँव से निकलकर भारत की ऑक्सफोर्ड कही जाने वाली इलाहाबाद विश्वविद्यालय जैसे शिक्षा संस्थान में प्रवेश लेते हैं और कम खर्च में ही उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। हाँ, ईश्वर प्राप्त मेधा शक्ति उनकी एक मात्र पूँजी रही। अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर युवक को जीवन में अनेक संयोग भी सहायक सिद्ध होते हैं। डॉ० अग्रवाल की शिक्षा के दौरान अपने कठिन परिश्रम के चलते सरकारी छात्रवृत्ति मिलना, इलाहाबाद म्योर छात्रावास मिलना, राष्ट्रीय छात्रवृत्ति मिलना, वहीं डॉ० एस०के० सक्सेना का संरक्षण मिलना, वी०एस०सी० में कम अंक मिलने पर एक कोचिंग के मुखिया को एल०एल०बी० की सीख देना, ईश्वर प्रदत्त संयोग सहज ही मिलते गये।

डॉ० प्रमोद अग्रवाल को अपने बड़े भाई के एक नायब तहसीलदार मिश्र की सीख जीवन का पाथेय बन गयी.... जिन विद्यार्थियों ने लगन, परिश्रम तथा अध्यवसायपूर्वक पढ़ लिया, वे आई०ए०एस० की कठिन परीक्षश की गंगा पार कर आई०ए०एस० बन जाते हैं। भारत में यही एक परीक्षा है जिसमें न तो बेईमानी है, न पक्षपात है न रिश्वत चलती है। विशुद्ध अभ्यर्थी की योग्यता के आधार पर उसका चयन होता है। आत्मकथाकार के प्रेरक जीवन प्रसंग आज के निराश युवाओं के मन में आशा की ज्योति प्रज्ज्वलित करने में सक्षम हैं। प्रथम प्रयास में सफलता न मिलने पर भी निरन्तर प्रयासरत रहना फिर अन्ततोगत्वा पहले बिक्रीकर अधिकारी, फिर भारतीय राजस्व सेवा में आई०टी०ओ० अन्त में आई०ए०एस० में सफलता

प्राप्त करना लेखक के कठिन परिश्रम, लगन और ध्येयनिष्ठा को दर्शाती है। आई०आर०एस० में रहते हुए ही लेखक का विवाह में बँधना और अपनी होने वाली जीवन संगिनी से यह कहा- ''समझ लो तुम एक आई०आर०एस० अफसर से ही शदी नहीं कर रही हो, मुख्यतः तुम एक लेखक से शादी कर रही हो। मैं अपने घर पर नौकर नहीं रखता हूँ'' स्पष्टवादिता को प्रदर्शित करता है।

लेखक ने जीवन के पथ पर छोटे बड़े सभी से प्रेरणा ली है। (उदाहरण के लिए समय की पाबन्दी की सीख तमिलनाडु की एक अतिथि गृह के सहायक से मिली जो लार्ड माउण्टबेटन का बटलर रहा था।) डॉ० अग्रवाल को बंगाल कैडर मिला या लिया यह स्पष्ट नहीं हुआ है फिर भी लेखक ने पश्चिम बंगाल को ही अपना कार्यक्षेत्र चुना। डॉ० अग्रवाल यहाँ सहायक मजिस्ट्रेट से लेकर उप-जिलाधिकारी, अतिरिक्त जिलाधिकारी, फिर जिलाधिकारी, फिर निदेशक गंगा कार्य योजना (उत्तर प्रदेश) तदुपरान्त कोलकाता में निदेशक भूमि आलेख, सर्वेक्षण तथा संयुक्त भूमि एवं भूमि सुधार आयुक्त, विशेष सचिव, दिल्ली में सुंयक्त सचिव, न्याय एवं विधि मंत्रालय भारत सरकार और अन्त में पश्चिम बंगाल सरकार में प्रधान सचिव और मुख्य सचिव के रूप में अपनी सरकारी सेवा यात्रा पूरी की। आई०ए०एस० सेवा में अपना भविष्य बनाने के लिए इच्छुक युवाओं के लिए आत्मकथा एक मार्गदर्शक ग्रन्थ के रूप में सहायक है कि एक उच्च अधिकारी प्राप्त नौकरशाह की अपने सेवा काल में अनेक संकटों और संघर्षों का सामना भी करना पड़ता है। सरकारी सेवा कोई फूलों की सेज नहीं है। कदम-कदम पर नौकरशाही आपकी परीक्षा लेते हैं और इस महासंग्राम में कूदना पड़ा है, हाथ पैर मारने पड़ते हैं, ईर्ष्या का पात्र बनना पड़ता है, किन्तु ईमानदारी और न्याय पथ पर कोई अधिकारी कंचन बनकर खरा उतरता है।

डॉ० अग्रवाल की यह आत्मकथा मुझे विशष रूप से सामीप्य दर्शाती है। मेरा जैसा अतिसाधारण परिवार में जन्मा बालक अपने कठोर परिश्रम और उच्च शिक्षा के बल पर पहले उ०प्र० लोकसेवा आयोग फिर संघ लोक सेवा आयोग के साक्षात्कार में सफलता प्राप्त कर ारत सरकार में राजपत्रित पद को प्राप्त कर लेता है और लेखन के बल पर राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने में सफल रहता है। यह अच्छा रहा कि डॉ० प्रमोद अग्रवाल ने सरकारी सेवा के साथ-साथ साहित्य-लेखन में भी प्रवीणता प्राप्त कर ली। भले ही कानून इनका प्रिय विषय रहा है, किन्तु विभिन्न विधाओं में सफलतापूर्वक साहित्य सृजन करना इनकी विशेषता रही है। डॉ० अग्रवाल चाहते तो राजनीति में भी जा सकते और सांसद बनकर वे मन्त्री अथवा राज्यपाल पद भी सेवा निवृत्ति के उपरान्त आसानी से प्राप्त कर लेते। किन्तु इन्होंने शान्ति और सुकून का क्षेत्र साहित्य को चुना। डॉ० अग्रवाल ने अपनी आत्मकथा में

लिखा भी है- ''साहित्य सृजन मेरी अभिरुचि थी जो समयान्तर में मेरा पेशा बन गयी।'' यही कारण है कि उनके लेखन को प्रो० नामवर सिंह, कृष्ण बिहारी मिश्र, महाश्वेता देवी जैसी हस्तियों ने सराहा और मान्यता प्रदान की।

इस प्रकार यह आत्मकथा पठनीय तो है ही, माननीय और संग्रहणीय भी है। लेखक का अनुभव नयी पीढ़ी को यथेष्ट मार्गदर्शन करने में सफल है। कुछ मामूली सी वर्तनी चूँकि और तथ्यों को विचलन (जैसे लेखक की उच्चतम प्रोन्नति वर्ष २००६ है जबकि पृष्ठ १७६ पर २०१६ दर्शायी गयी है) ऐसी चूकों को छोड़कर, ये चूँकि सम्भवता मुद्रण में हो गयी होंगी, प्रकाशन प्रायः निर्दोष है। डॉ० अग्रवाल ने अपने लेखन के बारे में लिखा है- ''मैंने लगभग ५६.८ लाख शब्दों की माला बनाई और अक्षर ब्रह्म की सेवा की है।'' यद्यपि जीवन प्रत्येक क्षण एक आत्मकथा का ही अधिकार रसता है। लगभग ७५ वर्षों की जीवनगाथा को २०८ पृष्ठों में समेट पाना असम्भव ही होता है। इसके लिए कई खण्ड लिखने होते हैं। किन्तु डॉ० अग्रवाल ने अपने जीवन का आपबीती सार इस आत्मकथा के संक्षेप में समाहित कर दिया है। इस उत्कृष्ट आत्मकथा लेखन के लिए डॉ० अग्रवाल को अनन्त बधाईयाँ और सफल प्रकाशन के लिए आत्मीय अभिनन्दन।

-प्रधान सम्पादक
'सौरभ' न्यूयार्क, यू०एस०ए०